हिन्दी कथा साहित्य में आदिवासियों के विस्थापन की समस्या

(पीएच. डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध–प्रबंध)

शोध–निर्देशक

डॉ. गोबिन्द प्रसाद

शोधकर्ता

सुधीर कुमार हेम्ब्रम

भारतीय भाषा केंद्र

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली–110067

2005

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature & Culture Studies
New Delhi-110067, INDIA

Dated: 21 / 07 / 2005

DECLARATION

I declare, that the work done in this thesis entitled - **"HINDI KATHA SAHITYA MEIN AADIWASIYON KE VISTHAPAN KI SAMASYA "** by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University / Institution.

S Hembrom 21.7.05

Name: SUDHIR KUMAR HEMBROM
(Research Scholar)

21.7.05

DR. GOBIND PRASAD
(Supervisor)
Centre of Indian Languages, School of Language, Literature and Culture Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

H.S. Hussain

PROF. MOHD. SHAHID HUSAIN
(Chairperson)
Centre of Indian Languages, School of Language, Literature and Culture Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

GRAM: JAYENU, TEL.: (91-011) 26107676, 26167557 Extn.: 2217, Fax: (91-011) 26165886, 26106025

समर्पणः—

दुनिया भर के
विस्थापितों
एवं
उनके संघर्ष को.....

अनुक्रमणिका

प्रस्तावना : i--vi

अध्याय--प्रथम : विस्थापन की अवधारणा : 1—.24

क – विस्थापन का अर्थ और स्वरूप :

(i) युद्ध और साम्प्रदायिक विभीषिका से विस्थापन!

(ii) विकास नीतियों से हुए विस्थापन!

(iii) आजीविका की खोज में पलायन से हुए विस्थापन !

(iv) प्राकृतिक आपदा से विस्थापन!

ख – विस्थापन के सामाजिक – राजनीतिक संदर्भ !

ग – विस्थापन के मनोवैज्ञानिक आयाम !

घ – विस्थापन और सांस्कृतिक वर्चस्व से जुड़े !

अध्याय--द्वितीय : हिंदी उपन्यास : विस्थापन की वेदना और आदिवासी जीवन

25—68

(क) महाजनी शोषण संदर्भ आदिवासी विस्थापन

(ख) विकास नीतियों के असंगत कार्यान्वयन और विस्थापन

(ग) आजीविका की खोज में पलायन

(घ) विस्थापन और जनजातीय समाज में परिवर्तन

(ड.) विस्थापन और आदिवासी महिलाओं की स्थिति

तृतीय अध्याय : हिंदी कहानियों में विस्थापन और आदिवासी जीवन 69—111

(क) बाह्य अतिक्रमण और शोषण

(ख) विस्थापन की जनजातीय समाज में प्रतिक्रयाएँ

(ग) गैर सरकारी संगठनों की भूमिका

(घ) पुनर्वास के सरकारी प्रयास और असफलताएं

चतुर्थ अध्याय : हिंदी कथा साहित्य में आदिवासी समाज और उभरती राजनैतिक—सामाजिक चेतना 112--155

(क) विस्थापन के प्रति आदिवासी समाज में प्रतिरोधी स्वर

(ख) जन—आंदोलन का उभार

(ग) जागरूकता की राजनीतिक परिणति

(घ) आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था में भागीदारी

(ड.) विस्थापन और आदिवासी महिलाओं की स्थिति

अध्याय—पांचवां : कथा साहित्य में विस्थापन की समस्या और उसकी अभिव्यक्ति के विविध रूप 156—195

(क) आदिवासी समाज और शिल्प के अंतःसंबंध

(ख) लोक संस्कृति के सर्जनात्मक धरातल

(ग) भाषा शैली के आंचलिक तथा लोकरंग/रूप

(घ) प्रतीक, रूपक और बिम्ब विधान

उपसंहार :— 196—204

ग्रन्थानुक्रमणिका : — 205—214

(क)आधार ग्रंथ

(ख)सहायक ग्रंथ

(ग)पत्र—पत्रिकाएँ

प्रस्तावना

भारत के मूल निवासी कहलाने वाले आदिवासियों के साथ हिन्दी कथा साहित्य ने उपेक्षापूर्ण रवैया अपनाया है। इस देश में इनकी जनसंख्या वर्ष 2001 के अनुसार 8.2प्रतिशत है। ये केवल हरियाणा, पंजाब, दिल्ली राजधानी क्षेत्र तथा संधीय क्षेत्रों में चंडीगढ और पांडिचेरी को छोड़कर अन्य सभी प्रान्तों में बसते हैं। इन क्षेत्रों में बसने वाले आदिवासियों को जनजाति की मान्यता देकर अनुसूचित किया गया है। जनजातियों की आबादी मिजोरम, नागालैंड और मेधालय जैसे छोटे राज्यों में 85 प्रतिशत से अधिक और हिन्दी प्रदेशों में भी इनकी जनसंख्या कम नहीं है। आज देश की विभिन्न विकासवादी परियोजनाओं से विस्थापन ने इनकी जिन्दगी को नारकीय बना दिया है। ये अपनी मूल प्रकृति और संस्कृति को खो रहे हैं। इनकी इस दयनीय स्थिति के बावजूद हिन्दी कथाकारों की दृष्टि इनपर कम ही पड़ी है। यदि किसी पुस्तक में इनकी चर्चा आई भी है तो वह नाम मात्र का है। इन्हीं सब कारणों से प्रभावित होकर मेरे मन में आदिवासियों के विस्थापन की समस्या पर शोध करने का विचार आया। आदिवासी समाज मुख्यतः कृषि प्रधान समाज रहा है। वह भले ही सीमित क्षेत्रों, जंगलों और पर्वतों में होने वाली स्थानांतरित कृषि ही क्यों ना करता हो । क्योंकि जल जंगल और जमीन ही उनके जीवन का मूल आधार है इसलिए आदिवासी प्रायः उन्ही स्थानों में मिलते हैं, जहाँ जल जंगल और जमीन की प्रचुरता है।

प्रथम अध्याय में हमने विस्थापन की अवधारणा को सविस्तार समझाते हुए इसके अर्थ और स्वरुप को समझाने का प्रयास किया है। इसके साथ ही 'आदिवासी' शब्द का अर्थ और उनके अस्तित्व के बारे में बताते हुए तथाकथित मुख्यधारा के लोंगों को आदिवासी शब्द से होने वाली परेशानियों की भी चर्चा की है। 'आदिवासी' का तात्पर्य जंगलों पहाड़ों में रहने वाले मानव–समूहों तक ही सीमित कर दिया गया है। आदिवासियों का दुर्भाग्य है कि जंगलों और पर्वतों में

भी अमन और चैन से इन्हें नहीं रहने दिया गया है। जिसके परिणाम स्वरूप ये निरंतर विस्थापित हो रहे हैं। इसके बावजूद जब कभी उन्हें समतल से बेदखल किया गया है, आदिवासियों ने वन–पर्वतांचलों के जीवन को आत्मसात् कर लिया है और अपनी स्वतंत्र जीवन शैली विकसित की है। इस प्राकृतिक परिवेश से आदिवासियों ने वही लिया जो प्रकृति ने उदारतापूर्वक दिया। इसके बदले में वे जंगलों के सजग पहरेदार बन गये। कितने भी वे अभाव में रहे हों फिर भी इस परिवेश में उन्होंने अपनी दुनिया विकसित की। दुनिया में क्या हो रहा है, इसकी उन्होंने न जानकारी हासिल की और न ही इसकी जरूरत समझी। यह आदिवासियों का प्रकृति प्रेम ही है। आधुनिकता के दौर में जीवन की नवीन आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु विभिन्न परियोजनाएं लगाई गईं। ये प्रायः आदिवासी क्षेत्रों में ही देखे जा सकते हैं। इन परियोजनाओं से आदिवासियों का विस्थापन निरंतर जारी है ।

दूसरे अध्याय में प्राचीन काल से चले आ रहे विस्थापन के कारणों को खोजने का प्रयास किया गया है। हम सभी जानते हैं कि यह विश्वव्यापी समस्या है जिसे सर्वत्र देखा जा सकता है। एक ओर यह प्रक्रिया विकास का आंकड़ा है तो दूसरी ओर यह शोषण और बर्बादी का कारण भी है। शोषण की विविध प्रणालियां दुनिया के भूगोल में जिस तरह असहाय विस्थापितों का हुजूम पैदा कर रही हैं, वह देखने योग्य है। आधुनिक युग के हर क्षेत्रों में विकासवादी तकनीकें विस्थापितों की संख्या बढ़ा रही हैं। अतः हिन्दी उपन्यास विस्थापितों की वेदना और आदिवासी जीवन को उकेरने में कहाँ तक सफल हुआ है, यही देखने का प्रयास किया गया है।

ऐसा माना जाता है कि साहित्य समाज का दर्पण होता है। इसके साथ ही यह समाज में व्याप्त समस्याओं को भी बखूबी उकेरने का प्रयास करता है। आज जब हम दासता भरे विस्थापनों को अपने चारों ओर देखते हैं तो मन भावुक हो उठता है। विस्थापन के कई रूप आज भी व्याप्त हैं। जैसाकि कर्ज से लदे

किसान, छटनी भरी जिंदगी को झेलते मजदूर और धरती ढूंढ़ते आदिवासी इत्यादि। ये लोग आजीविका की खोज में दर–दर भटक रहे हैं। जिसके कारण जनजातीय समाज में विस्थापन और परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। इस संदर्भ में आदिवासी महिलाओं की स्थिति और भी चिन्तनीय एवं दयनीय नजर आती है।

तृतीय अध्याय में साहित्य को मानवीय संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के महत्वपूर्ण साधन के रूप में दिखाया गया है। साहित्य में सहित शब्द का एक व्यापक सामाजिक अर्थ भी है जो उसके उद्देश्य और प्रयोजन की ओर संकेत करता है। जब कोई अपने और पराये की संकुचित सीमा से ऊपर उठकर एक समान मनुष्यता की भाव–भूमि पर पहुंच जाय तो समझना चाहिए कि वह साहित्य धर्म का निर्वाह कर रहा है। साहित्य यदि समाज के सभी वर्गों के साथ न्याय नहीं कर रहा है, तब इसका मतलब है कि साहित्यकारों में कुछ दोष है। जहां तक हिंदी साहित्य की बात है, हिंदी साहित्यकारों ने हाशिये पर रहे लोगों की ओर ज्यादा ध्यान नहीं दिया है। हालांकि समय की मांग और आधुनिकता की आवश्यकता ने हिंदी साहित्यकारों को दलितों और आदिवासियों पर लिखने के लिए विवश किया है। इसके परिणामस्वरूप आज हम हिंदी कहानियों में विस्थापन की समस्या और इससे प्रभावित होती आदिवासी जीवन को पाते हैं। विस्थापनकारी समस्या आदिवासियों के लिए आज भी उतना ही गंभीर है जितना कि स्वतंत्रता पूर्व थी। जल, जंगल और जमीन के अधिकारों के प्रश्न पर प्रतिरोध 19वीं सदी के बाकी दशकों में भी जारी रहा है। इसी का परिणाम था कि ब्रिटिश सरकार ने जंगल और जमीन पर आदिवासियों के अधिकार को सुरक्षित करने के लिए कानून बनाए। स्वतंत्रता के बाद जंगल पर आदिवासियों का अधिकार क्रमशः संकुचित होता गया इसके साथ ही गरीबी की समस्या भी व्यापक एवं गंभीर होती गई। यही कारण है कि आदिवासी क्षेत्रों में बाह्य अतिक्रमण और शोषण की प्रवृत्ति भी प्रबल होती गई। अतिक्रमण और शोषण की इन प्रवृत्तियों ने जनजातीय समाज को अपने हित के लिए आन्दोलित को प्रेरित किया। इन आन्दोलनों में गैर सरकारी संगठनों की भी

महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इसके साथ ही हमने पुनर्वास के सरकारी प्रयास और असफलताओं को दिखाने प्रयास किया है।

चौथा अध्याय में हमने हिंदी कथा साहित्य में विस्थापित आदिवासी समाज और उभरती राजनैतिक–सामाजिक चेतना को दिखाने का प्रयास किया है। हम सभी जानते हैं कि अधिकतर विकास परियोजनाएं आदिवासी क्षेत्रों में लगाए गए हैं जिससे वे विस्थापन और पलायन को मजबूर हैं। सरकार हमेशा वादा करती है कि विस्थापितों को रोजगार दी जाएगी परंतु जितने लोगों को मिलनी चाहिए, यह नहीं मिलती है। जिसके परिणामस्वरूप लोग रोजगार की तलाश में बाहर जाने लगते हैं और उनकी जिंदगी बंजारों जैसी हो जाती है। यही कारण है कि विस्थापन के प्रति आदिवासी समाज में प्रतिरोधी स्वर उठने लगे हैं। इस प्रकार की योजनाओं से आदिवासी और गैर–आदिवासी दोनों प्रभावित हुए हैं। लेकिन इन योजनाओं से आदिवासी सबसे अधिक पीड़ित हैं, क्योंकि इस प्रकार की योजनाएं आदिवासी क्षेत्रों में अधिक लगे हैं। हम सभी जानते हैं कि आदिवासियों का जीवन–यापन उन क्षेत्रों में व्याप्त सामग्री पर ही निर्भर करती है। अतः कहा जा सकता है कि इन योजनाओं–परियोजनाओं से आदिवासियों का सामाजिक और आर्थिक जीवन भी प्रभावित हुआ है। इसीलिए आदिवासी अपने अधिकारों की रक्षा के लिए आज भी जन–आन्दोलन को मजबूर हैं। आदिवासियों की जागरूकता की राजनीतिक परिणति लोकतांत्रिक व्यवस्था में भागीदारी के रूप में दिखता है। इनकी समस्याओं को लेकर समाजशास्त्र और राजनीति शास्त्र में लेखन और शोधकार्य निरंतर जारी है। लेकिन हिंदी कथा साहित्य में इसकी कमी महसूस की जा सकती है, परंतु इनसे संबंधित जो उपलब्ध सामग्री हिंदी कथा साहित्य में है उनमें आदिवासी समाज और उभरती राजनैतिक– सामाजिक चेतना को देखा जा सकता है।

पांचवा अध्याय आदिवासी समाज की समस्या और इसकी अभिव्यक्ति के विविध रूप का अध्ययन करते हुए आदिवासी समाज और शिल्प के अंतःसंबंध पर

है किन्तु इसपर विचार करने से पूर्व हमने आदिवासी समाज को जानने का प्रयास किया है। इसके साथ ही समाज को व्यापकता में समझने की कोशिश भी की है। समाज ऐसे व्यक्तियों का एक समूह होता है जो सामान्य उद्देश्यों, कार्यों तथा मनोकामनाओं के लिए संगठित होकर साथ–साथ रहते हैं। इसी प्रकार आदिवासियों का भी अपना समाज है। इसलिए हमने इस अध्याय में आदिवासी समाज और शिल्प के अन्तः संबन्ध के साथ–साथ लोक–संस्कृति के सर्जनात्मक धरातल पर आदिवासी समाज को देखने का प्रयास किया है। आदिवासी समाज मुख्यधारा से अलग रहने के कारण इनकी भाषा और संस्कृति में विभिन्नता देखने को मिलती है। हिन्दी कथा साहित्य में आदिवासियों की विविधता एवं भाषा शैली के आंचलिक, लोकरंग और रूप को अभिव्यक्त करने में कथाकार कहां तक सफल हुआ है इसे देखने की कोशिश की गई है। हम सभी जानते हैं कि कथाकार अपनी अभिव्यक्ति स्पष्टता तथा चित्रण में निखार लाने हेतु विविध तकनीकों का प्रयोग करता है। इन्हीं तकनीकों को हमने देखने का प्रयास किया है। इसके साथ ही अंत में उपसंहार देने की कोशिश की है जिससे विषय–वस्तु के निचोड़ को प्रस्तुत किया जा सके। अंत में उन पुस्तकों और पत्रिकाओं की सूची दी गई है जिसकी सहायता शोध–प्रबंध में ली गई है।

शोध कार्य के दौरान जिस परामर्श, सहयोग, वैचारिक स्वातंत्र्य की आवश्यकता थी, ऐसा शोध निर्देशक डॉ. गोबिन्द प्रसाद जी के निर्देशन में ही पूर्ण रूपेण संभव था। इनके प्रति आभार व्यक्त करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं।

मैं मां के ममतामयी स्नेह, भैया–भाभी, बड़ी एवं छोटी बहनों के साथ समस्त परिवार को याद करता हूँ जिनके अविस्मरणीय प्यार एवं सहयोग ने मुझे निरन्तर आगे बढ़ने को प्रेरित किया है ।

इस शोध कार्य में मैं ऋतु रंजन कुमार एवं उदय कुमार, वीणारानी जी, को विशेष रूप से धन्यवाद देना चाहता हूं, जिनसे वैचारिक विमर्श के दौरान कई महत्वपूर्ण बिंदु उभर कर सामने आए। इनके साथ ही रमेश जी, सुमन जी,

राजशेखर, पॉल, राखाल, आनंद प्रकाश, हलधर, रजनीश, पीयूष, अमन, आदि का सहयोग उल्लेखनीय रहा। भाई समान रजनीश जी एवं आनंद कुमार हांसदा, अभिषेक भगत और संदीप हेम्ब्रम के प्यार एवं सहयोग को भुलाया नहीं जा सकता। उन मित्रों और विद्वजनों का भी मैं शुक्रगुजार हूं जिन्होंने प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से, जाने–अनजाने मेरा सहयोग किया है। साहित्य आकादमी (नई दिल्ली), जवाहरलाल नेहरू विश्वविधालय के पुस्तकालय एवं झारखण्ड ट्राइबल वेलफेयर रिसर्च इंन्स्टीच्यूट, रांची के कर्मचारियों को धन्यवाद देता हूँ जिसके सतत सहयोग से मेरा शोध–प्रबंध पूरा हो सका। इस शोध–प्रबंध के टंकण के लिए विक्रम जी का कृतज्ञ हूँ जिन्होने तन–मन से इस कार्य को पूरा किया।

– सुधीर कुमार हेम्ब्रम

अध्याय–प्रथम

पहला अध्यायः विस्थापन की अवधारणा :

क – विस्थापन का अर्थ और स्वरूप :

(i) युद्ध और साम्प्रदायिक विभीषिका से विस्थापन!

(ii) विकास नीतियों से हुए विस्थापन!

(iii) आजीविका की खोज में पलायन से हुए विस्थापन !

(iv) प्राकृतिक आपदा से विस्थापन!

ख – विस्थापन के सामाजिक – राजनीतिक संदर्भ !

ग – विस्थापन के मनोवैज्ञानिक आयाम !

घ – विस्थापन और सांस्कृतिक वर्चस्व से जुड़े !

विस्थापन की अवधारणा

आदिवासी समाज मुख्यतः कृषि प्रधान समाज रहा है। वह भले ही सीमित क्षेत्र, जंगलों और पर्वतों में होने वाली स्थानांतरित कृषि ही क्यों ना हो। क्योंकि जल जंगल और जमीन ही उनके जीवन का मूल आधार है। इस लिए आदिवासी प्रायः उन्हीं स्थानों में मिलते हैं, जहां जल जंगल और जमीन की प्रचुरता व्याप्त है। "आदिवासी शब्द का अर्थ होता है मूल निवासी यानी इस देश–समाज का मूलवासी.....लेकिन अब आदिवासी का तात्पर्य जंगलों पहाड़ों में रहने वाले मानव–समूहों तक ही सीमित है"[1] यह आदिवासियों का दुर्भाग्य है कि जंगलों और पर्वतों में भी उन्हें अमन और चैन से नहीं रहने दिया जाता है। जिसके परिणाम स्वरूप निरंतर विस्थापित हो रहे हैं। इसके बावजूद जब कभी उन्हें समतल से बेदखल किया जाता है "आदिवासियों ने वन–पर्वतांचलों के जीवन को आत्मसात कर लिया और अपनी स्वायत्त व स्वच्छंद जीवन शैली विकसित कर ली। प्रकृति और आदिवासी पररस्पर घुल मिल गए। इस प्राकृतिक परिवेश से आदिवासियों ने वही लिया जो प्रकृति ने उदारतापूर्वक दिया। इसके बदले में वे जंगलों के सजग पहरेदार बन गये। कितने भी वे अभाव में रहे हों फिर भी इस परिवेश में उन्होंने अपनी दुनिया विकसित की,.....बाहरी सभ्य दुनिया में क्या हो रहा है, इसकी उन्होंने न जानकारी हासिल की और न ही और न ही इसकी जरूरत समझी।"[2] यह आदिवासियों का प्रकृति से गहरा प्रेम है। लेकिन यह भी सत्य है कि आधुनिकता के इस युग में मानव जीवन की नवीन आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु विभिन्न परियोजनाएं आदिवासी क्षेत्रों में ही लगाया जा रहे हैं। जिससे आदिवासियों का विस्थापन निरंतर जारी है ।

---

[1] अरावली उद्घोष (आदिवासी विशेषांक) : अप्रैल –जून : 2001, पृ0 संख्या --04.

[2] अरावली उद्घोष (आदिवासी विशेषांक) : अप्रैल –जून :2001, पृ0 संख्या –05

(क) विस्थापन का अर्थ और स्वरूप :–विस्थापन का आशय है 'अपने मूल स्थान से अन्यत्र जाकर निवास करना', लेकिन विभिन्न शब्दकोषों ने विस्थापन को अपने स्तर से परिभाषित करने का प्रयास किया है।

हिन्दी साहित्य का मानक शब्दकोश 'वृहत हिन्दी कोश' के अनुसार "बलपूर्वक किसी स्थान से हटाना ही विस्थापन है।"[3] हिन्दी साहित्य और अंग्रेजी भाषा पर समान अधिकार रखने वाले हिन्दी साहित्य के महान पुरोधा 'फॉदर कामिल बुल्के' के अनुसार–विस्थापन "मूल स्थान से अन्यत्र चले जाना है।"[4] पाश्चात्य अंग्रेजी शब्दकोश 'द कनसाइज ऑक्सफोर्ड डिक्सनरी' के अनुसार विस्थापन "विस्थापित होने की घटना या प्रक्रिया है।"[5] यूनाइटेड नेशंस का विस्थापित लोंगों के बारे में विचार है कि "आन्तरिक विस्थापित लोग जो युद्ध, सामान्यीकृत हिंसा मानवाधिकार उल्लंधन या प्राकृतिक एवं मनुष्यकृत आपदाओं से अपना बचाव करने के लिए अपने घर–बार छोड़ने को बाध्य कर दिए हैं और वे अपने मूल निवास स्थान/देश की अन्तर्राष्ट्रीय सीमा को पार न कर मूल देश में ही किसी दूसरी जगह रह रहे हैं। गृह युद्ध के कारण आज परे विश्व में आन्तरिक विस्थापितों के कई विशाल–समूह बन गए हैं। आज आन्तरिक विस्थापितों की अनुमानित संख्या 02 से 2.5 करोड़ है जो कि शरणार्थियों की संख्या से भी अधिक है।"[6] जहाँ तक मौलिक आवश्यकताओं की बात है तो कहा जा सकता है कि "आन्तरिक विस्थापितों की आवश्यकताएँ, शरणार्थियों की आवश्यकताओं जैसी ही है। उन्हें तत्काल सुरक्षा एवं सहायता चाहिए। इसके साथ ही मूल निवास स्थान

---

[3] वृहत हिन्दी कोश :संपा0 कालिका प्रसाद (राजवल्लभ सहाय एवं मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव) पृ0 संख्या : 107

[4] अंग्रेजी – हिन्दी कोश : फॉदर कामिल बुल्के : पृ0 संख्या :186. –

[5] द. कनसाइज ऑक्सफोर्ड डिक्सनरी : पृ0 संख्या : 390 (नवॉ संस्करण)

[6] बेसिक फेक्ट : अबाउट द यूनाइटेड नेशंस : पृ0 संख्या ,253

को लौटाना या पुनर्वास जैसी दीर्घ अवधि के समाधान की भी उन्हें जरूरत होती है।"[7] इसके साथ यह भी जानना जरूरी है कि शरणार्थी किसे कहते हैं। यूनाइटेड नेशंस के अनुसार "ऐसे लोगों को शरणार्थी कहा जाता है जो अपनी प्रजाति, धर्म, राष्ट्रीयता, राजनीतिक मत या किसी विशेष सामाजिक समूह के सदस्य होने के कारण उत्पीड़न या अत्याचार का शिकार हैं। इस उत्पीड़न के भय से उन्हें अपने देश के छोड़ कहीं दूसरी जगह विस्थापित होना पड़ा है। ऐसे विस्थापित लोग या तो अपने मूल निवास स्थान जा नहीं सकते या जाना नहीं चाहते।"[8] अतः यह कहा जा सकता है कि कमोवेश दोनों की स्थिति एक जैसी है, क्योंकि भय, आतंक, आशंकाएँ, असमानताएँ, अभाव, असंतोष, अविश्वास और आनंदहीनता उनकी विशेषताएँ हैं। अतः परिभाषा एवं परिस्थितियों के आधार पर विस्थापन के निम्न स्वरूप हैं ।

(i) युद्ध एवं साम्प्रदायिक विभीषिका से विस्थापन ।

(ii) विकास नीतियों से विस्थापन ।

(iii) आजीविका की खोज में पलायन ।

(iv) प्राकृतिक आपदा से विस्थापन ।

(i) युद्ध एवं साम्प्रदायिक विभीषिका से विस्थापन :

मानव सभ्यता के विकास के साथ–साथ अनादि काल से मानव जीवन का विस्थापन निरन्तर जारी है। विस्थापन एक प्रक्रिया है, जिसके कई कारण है। व्यक्ति और समाज अपनी सुविधानुसार अवसर की तलाश एवं बेहतर जिन्दगी की खोज में निरन्तर चलायमान रहे हैं। कभी–कभी मनुष्य की इस गतिशीलता के लिए युद्ध एवं सामाजिक विद्रूपता उत्प्रेरक का काम करती है। जिससे सम्पूर्ण मानवीय समाज प्रभावित होता है। इस क्रिया को करवाने में समाज के ठेकेदार,

---

[7] यूनाईटेड नेशंस : पृ0 संख्या 253.

[8] यूनाईटेड नेशंस : पृ0 संख्या 252 .

सत्ता एवं राजनीतिक के प्रलोभी प्रेरित करते हैं। जो कालान्तर में मानव समाज के लिए एक विकट समस्या उत्पन्न करती है। देश के विभाजन से लेकर साम्प्रदायिक दंगों में व्याप्त तनाव के कारण लोग विस्थापित होने को विवश होते हैं। इन अवस्थाओं में लोगों को लोक प्रेम, स्थान प्रेम, के बाबजूद स्थानांतरण उनकी मजबूरी हो जाती है । इन स्थितियों को बारीकी से वही व्यक्ति अनुभव कर सकता है, जिसने संकट की इस वेला में दुःख के थपेड़ों को सहा है। वही व्यक्ति इन समस्याओं एवं विपदाओं का सच्चा दर्शक हो सकता है। विभाजन के प्रभाव में हिन्दी काफी बड़ी मात्रा में साहित्य रचे गये। इसका कारण यह है कि हिन्दी के बहुत से रचनाकारों का संबंध पंजाब से रहा है तथा हिन्दी की रचनाओं में पंजाब के विभाजन व साम्प्रदायिक दंगों की समस्या ही अधिक उभर कर आयी है। हिन्दी की प्रमुख रचनां–कथा साहित्य के रूप में प्रस्तुत हुई हैं। उपन्यास में यशपाल का 'झूठा–सच' भीष्म साहनी का 'तमस' राही मासूम रज़ा का 'आधा गॉव 'तथा शानी का 'कालाजल ' इत्यादि में विभाजन का प्रभाव अंकित है।

समय और समाज की माँग है कि विस्थापन की समस्या पर विचार एवं मंथन की जाए। क्योंकि विस्थापन की समस्या कालान्तर में 'अलगाववाद की समस्या' बन जाती है। "अस्सी के दशक में पंजाब को कृत्रिम अलगाववाद एवं आतंक की दोहरी आग में जलना पड़ा। ऐसे भी वक्त आये जब आतंकवादियों को विदेशी सहायता व हथियार की आपूर्ति ही नहीं बल्कि धार्मिक मंच एवं समुदाय की उल्लेखनीय सहानुभूति भी हासिल रही। उनके निशाने पर था पंजाब से हिन्दू विस्थापन।"[9] इसी प्रकार जम्मू–कश्मीर से कश्मीरी पंडितों के पलायन का ही परिणाम है कि आज जम्मू को अलग राज्य बनाने की माँग उठ रही है।

(ii) विकास नीतियों से विस्थापन :

---

[9] साहित्य में .....विस्थापित : विकास नारायण राय , पृ0 सेख्या –16 .

आदिवासियों का जंगलों से गहरा संबंध रहा है। इनका जीवन प्रकृति की गोद में पला बढ़ा है। वे खुले आकाश के नीचे प्रकृति की गोद में उन्मुक्त जीवन व्यतीत करते हैं। यह उन्मुक्तता और खुशहाली जीवन शायद विधाता को मंजूर नहीं था, यही कारण है कि आज यह क्षेत्र राजनीति का आखाड़ा बना हुआ है। इसको राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। जिससे प्रतीत होता है कि विकसित और विकासशील देशों की राजनीति से आदिवासी सर्वाधिक प्रभावित हुए हैं। विकास के नाम पर उन्हें छला जा रहा है। यह कहा जा सकता है " आदिवासी का नैसर्गिक धर जंगल अब एक 'गेम' का हिस्सा है, जिसके नियम हमेशा उधोगपति, विश्व बैंक, उपभोक्ता समाज बनाते हैं।"[10] इसके साथ ही बुर्जुवा वर्ग का सुविधानुसार इसका उपयोग एवं उपभोग करते हैं। अतः यह सर्वविदित है कि जैसे–जैसे जंगलों पर उपभोक्ता समाज और विश्व बैंक की पकड़ मजबूत होगी, वैसे ही आदिवासी ग्रामीणों की पकड़ ढीली होगी है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि "विकसित देश विकासशील देशों पर गैट का फंदा, पेटेंट कानून.....विश्व वानिकी समझौते का प्रस्ताव। अमेरिकी–यूरोप इसके माध्यम से सभी तरह के जंगलों का संरक्षण और प्रबंधन अन्तर्राष्ट्रीय देखरेख में करना चाहते हैं।"[11] हम सभी जानते हैं कि आधुनिकता के इस युग में विकसित दशों के नित् नये प्रयोगों से पर्यावरण–असंतुलन की समस्या उत्पन्न हो गई। अतः विकसित देशों की स्वार्थपरता ने पर्यावरण संतुलन को बनाये रखने का सारा बोझ विकासशील देशों प्रर थोप दिया है। वानिकी परियोजना के द्वारा पर्यावरण के असंतुलन को रोकने का प्रयास चल रहा है। इसके साथ ही यह भी सत्य है कि "व्यावसायिक वानिकी और प्लांटेशन जंगल का अर्थ ही बदल रहे हैं। जैव विविधता खत्म हो रही है, जंगल से मिलने वाले लघु वनोपजों से आदिवासी

---

[10] अरावली उद्घोष (आदिवासी विमर्श): अप्रैल –जून ,2001. पृ0 संख्या –29.

[11] अरावली उद्घोष (आदिवासी विमर्श): अप्रैल –जून ,2001. पृ0 संख्या –29.

वंचित हो रहे हैं। चराई की छूटवाले जंगलों में प्लांटेशन हो रहे हैं।"[12]इसके साथ ही "संरक्षित वन क्षेत्रों में विविधता की रक्षा का बीड़ा उठाया गया है। इसमें प्रमुख बाधा पार्कों व अभ्यारण्यों के भीतर व पास–पड़ोस में रहने वाले ग्रामीणों को माना गया है। इस क्षेत्रों के लिए दो रणनीतियां हैं। पहला है अंदर के गाँवों को हटाना.. .....दूसरी रणनीति है सीमा से लगे गाँवों के विस्तार पर पाबन्दी।"[13] यद्यपि सरकार द्वारा इसके लिए 'स्वैच्छिक विस्थापन सहायता कोष' बनाया गया है। इसमें स्पष्टतः कहा गया है "इस कार्यक्रम के तहत भारत सरकार की नीतियों और विश्व बैंक की मूल निवासियों संबंधी निर्देशों व अनैच्छिक विस्थापन संबंधी निर्देशों का पालन होना चाहिए ।"[14]लेकिन कानून की मनमानी व्याख्या व आतंक से ऐसे हालात पैदा किए जाते है कि प्रत्येक विस्थापन स्वैच्छिक बन जाते हैं। इस प्रकार सरकार की विकास नीति कभी–कभी उनके विस्थापन का मकड़जाल बन जाता है। जिस पर वे घुंट–घुंटकर मरने को विवश होते हैं। यदि यह कहा जाए कि जंगल "उद्योंगों तथा वन विकास नियम के लिए कच्चा माल है। सरकार के लिए राजस्व और वन विभाग कि लिए नौकरी है। शहर में रहने वालों के लिए पर्यावरण, पर्यटक के लिए दृश्य, पत्रकार के लिए मुद्दा, लेकिन आदिवासियों के लिए यह उसकी जिंदगी है।"[15]इसके बावजूद सरकार की तथाकथित विकास नीतियाँ आदिवासियों तथा प्रभावित क्षेत्रों के लोंगों की समस्याओं को ध्यान में रखकर नहीं बनायी जातीं हैं। यह सरकार और तथाकथित सभ्य समाज का षडयंत्र ही है कि आदिवासियों को पार्कों, अभ्यारण्यों से बाहर किया जा रहा है वहीं बहुत से पार्कों व अभ्यारण्यों को उद्योगों, पर्यटन–स्थलों व बांधों के लिए

---

[12] अरावली उद्घोष (आदिवासी विमर्श): अप्रैल –जून ,2001. पृ0 संख्या –29.

[13] वही –पृ0 संख्या –30.

[14] अरावली उद्घोष (आदिवासी विमर्श), अप्रैल –जून 2001, पृ0 संख्या –30.

[15] वही –पृ0 संख्या –31.

खोला जा रहा है। "हिमाचल प्रदेश का दालीघाट अभ्यारण्य व गुजरात का नारायण सरोवर अभ्यारण्य सीमेंट फैक्टरियों के लिए अधिसूचित किए गए। कर्नाटक के नागरकोल पार्क में ताज होटल ग्रुप का एक रिर्जाट बनाया जा रहा है.....रायपुर के सीतानदी अभ्यारण्य का एक हिस्सा सोंडर बांध में होशंगाबाद के बोरी व पंचमढ़ी अभ्यारण्य का एक हिस्सा तवा बाँध में समा चुका है। मध्यप्रदेश में 1980 से 1997 तक दो लाख तीस हजार हेक्टेयर भूमि खानों, बांधों व सेना के फायरिंक रेंज को दी जा चुकी है।"[16] जिससे कई लोग प्रभावित हुए हैं। इसके साथ ही 'विश्व वन्य जीव कोष' का विचार और विचलित करने वाले हैं। जैसाकि उनका मानना है "आदिवासियों की उपस्थिति से जानवर भयभीत होते हैं। जंगल कर्मचारियों की भाषा में ग्रामीणों को देखकर जानवर चमकते हैं। पर शायद पर्यटक उन्हें मोगली के भाई–भतीजे लगते हैं।"[17] लेकिन आदिवासियों का यह सवाल जायज लगता है कि "देश भर में वहीं जंगल और वन्य जीव क्यों बचे रह गये, जहां आदिवासी बाहुल्य है। पर्यावरण व वन मंत्रालय की1997–1998 की वार्षिक रिर्पोट के अनुसार (भारतीय वन सर्वेक्षण 1997–98)देश के कुल वन क्षेत्र का लगभग 85 प्रतिशत हिस्सा 137 जनजातीय जिलों में भौगोलिक क्षेत्र का लगभग 35 प्रतिशत हिस्सा वन क्षेत्र है। देश के आदिवासी उपयोजना के तहत कुल 149 जिले हैं।"[18] विस्थापन की त्रासदी से पस्त आदिवासियों का गुस्सा स्वभाविक ही है, क्योंकि सभ्य समाज और सरकार की विकास नीतियों से उसे भेद–भाव की बू आ रही है। इसीलिए वे कहते हैं "हमेशा उजाड़ने और खाली कराने के लिए आदिवासी गांव ही क्यों मिलते हैं ? भोपाल में भी एक राष्ट्रीय उद्यान है, वन विहार है, तालाब, पहाड़ और बगीचे हैं। शेर पालने के लिए बहुत

---

[16] अरावली उद्घोष (आदिवासी विमर्श), अप्रैल –जून 2001. पृ0 संख्या –31.

[17] वही –पृ0 संख्या –31.

[18] वही–पृ0 संख्या–31.

बढ़िया जगह है। भोपाल क्यों नहीं खाली कराते ? क्या इसलिए कि वहां बड़े–बड़े लोग रहते हैं।"[19] यह देश और समाज की विडंबना ही है कि मानवीय दु:ख–दर्द को भी जातीय एवं सामुदायिक पैमाने से मापा जाता है। विकास के नाम पर किस तरह आदिवासी अंचलों को उजाड़ा गया, जंगलों को तहस–नहस किया गया। इसके उदाहरणों की कमी नहीं है। आदिवासी समुदायों के लिए विकास का एक मतलब विस्थापन भी रहा है।

(iii) आजीविका की खोज में पलायन :

औपनिवेशिक युग में नए स्थलों की खोज और आविष्कार ने विस्थापन की प्रक्रिया को तीव्रता प्रदान किया। स्पेन वासी कोलम्बस द्वारा सन् 1492 ई0 में अमेरिका का पता लगाने के बाद उपनिवेश बसाने की होड़ में कई लोंगों को विस्थापित होना पड़ा। इससे एक ओर जहां औपनिवेशिक देशों को एक नयी दुनिया तथा रोजगार का अवसर मिला वहीं दूसरी ओर वहां के मूल निवासियों को अपने उन्मुक्तता और स्वछंदता से वंचित होना पड़ा। इन लोंगों ने जब कभी अपनी स्वतंत्रता, उन्मुक्तता एवं स्वछंदता बचाने का प्रयास किया, वहीं उन्हें विस्थापन की समस्याओं का सामना करना पड़ा है।

इससे यही प्रतीत होता है कि "विस्थापन विकास का आंकड़ा भी है और शोषण का भी! आर्थिक शोषण की प्रणालियां आज की दुनिया के भूगोल में जिस कदर असहाय विस्थापितों की हुजूम पैदा करती है, वह अभूतपूर्व है। साथ ही आधुनिक जीवन के हर क्षेत्र में छलांगे लगाती विकास की तकनीकें विस्थापनों की जबर्दस्त उत्प्रेरक बनी हुई है।"[20] जैसाकि "16वीं से 18वीं शताब्दी के बीच अफ्रीका से जहाज के जहाज कैदियों को पश्चिमी एशिया के गुलाम–बाजारों को भरने तथा अमेरिका भूखंडों में यूरोपीय स्थापनाओं को समृद्ध करने के लिए ले

---

[19] अरावली उद्घोष (आदिवासी विमर्श), अप्रैल –जून 2001. पृ0 संख्या --31.

[20] सृजन उत्सव (साहित्य में .....विस्थापित) : विकास नारायण राय :पृ0 संख्या–07.

जाया गया। एशिया और यूरोप की बढ़ती बेरोजगारी और बेकारी से भी इस काल में विस्थापनों को बढ़ावा मिला होगा, दक्षिणी चीन के कैंटनी लोग सारे दक्षिण–पूर्व–एशिया में फैले, जबकि यूरोपीय लोग अमेरिका और आस्ट्रेलिया की नई दुनिया में काबिज होते गए।"[21] अतः कहा जा सकता है कि औपनिवेशीकरण की यूरोपीय लहर उन्नीसवीं शताब्दी में अपने चरम पर थी। लेकिन आधुनिक भारतीयों के प्रवासी दौर की शुरूआत मुख्य रूप से "सन 1833–34 ई0 में ब्रिटेन द्वारा गुलामी की समाप्ति से सस्ती मजदूरों की व्यापक जरूरतों को पूरा करने के दबाव में हुई। जब बीसवीं शताब्दी की शुरूआती दशकों में औपनिवेशिक शक्तियों के मध्य बाजारों का टकराव तबाही का झंझावात बन गया तो उद्योग एवं परिवहन की लहरों के सहारे **दक्षिणी एवं पूर्वी एशियाई लोग अमेरिका और अफ्रीका में श्रम–बाजारों को भरने तथा अन्य अवसरों की तलाश में घुसपैठ कर सके।** सत्तर के दशक में पश्चिम एशिया एवं खाड़ी के देशों में जबर्दस्त तेल समृद्धि ने भारत के सस्ते कामगारों के लिए अवसरों के दरवाजे खोल दिए। आज विश्व में भारतीय प्रवासी समुदायों की संख्या सौ करोड़ से उपर आंकी गयी है।"[22] आज भी यह प्रक्रिया निरंतर जारी है। इसका केवल स्वरूप बदल गया है। उस समय लोंगों को जबर्दस्ती ले जाया जाता था, लेकिन आज स्वेक्षा से लोग जा रहे हैं। आज भी गरीबी और बेरोजगारी विकासशील देशों की सबसे बड़ी समस्या है। यही कारण है कि शोधार्थी से लेकर प्राध्यापक तथा बुद्धिजीवी पाश्चात्य देशों की और लगातार आकर्षित हो रहे हैं। बुद्धिजीवी और वैज्ञानिकों के पाश्चात्य प्रवाह को ब्रेन ड्रेन कहा गया है। इस तरह वैज्ञानिकों का पाश्चात्य प्रवासन या विदेश प्रवास की प्रवृति केवल भारत में ही नहीं बढ़ी है। **ईस्ट वेस्ट पोपुलेशन स्टडी सेंटर**, *होनुलुलू* के अनुसार–कम से कम सात दिनों का परिवर्तन स्थानांतरण है। इससे कम दिनों के लिए स्थानातंरण को परिसंचलन(circulation) कहते हैं। यदि व्यक्ति दिन

---

[21] सृजन उत्सव (साहित्य में .....विस्थापित) : विकास नारायण राय :पृ0 संख्या–07.

[22] सृजन उत्सव (साहित्य में .....विस्थापित) : विकास नारायण राय :पृ0 संख्या–07.

भर काम पर जाए और रात को वापस चला आए तो इस प्रकार के स्थानांतरण को अभिगमन(commutation) कहते है। समयावधि के अनुसार प्रवास दो प्रकार के होते हैं:–

(क) स्थायी प्रवास (permanent)

(ख) अस्थायी प्रवास (temporary)

स्थायी प्रवास का अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति कभी भी अपने मूल स्थान को लौट कर नहीं आएगा, बल्कि यह है कि उसने अपने अधिवास स्थान को स्थायी रूप से बदल लिया है। ऐसे लोंगों को कई विकसित देशों ने दोहरी नागरिकता की सुविधा प्रदान की है। भारत भी इस तरह के प्रवासियों को दोहरी नागरिकता देने की बात कर रही है। जिससे प्रवासी भारतीयों को अधिक से अधिक लाभ और सुविधा मिल सके। आधुनिक युग में प्रवास की यह प्रवृति विकासशील देशों की विशेषता के साथ–साथ विवशता भी हो गई है। जिस प्रकार " अपने परिवेश को जीकर, पीछे छोड़कर सीमित पाकर, उसे मुक्त होकर, बेहतर अवसरों की तलाश में बेगानी जगहों में निकल जाना ,विकास यात्रा होते हुए भी , बेहद लम्बे समय तक चलने वाला विपरीत अनुभव हो सकता है। यह समर्थ का विस्थापन है।"[23] सर्वविदित है कि इतिहास में समर्थ की विस्थापन गाथाओं, शोर्य, चतुराई, सफलता से भरी कथाओं की कमी नहीं है। लेकिन "अकाल उजाड़े के प्रसंग भी संबंधित समाजों के अनुभव, चेतना, वृतांत का अविच्छन्न हिस्सा रहे हैं। इन परम्पराओं में तमाम साहित्य की भरमार है जो गुणवता, प्रासांगिकता एवं जन–प्रभाव में बेमिसाल है।परन्तु भटकाव एवं पुनर्वास के लम्बे–लम्बे दौरों में साहित्य की प्रायः अनुपस्थिति खलने वाली है, मायूस करने वाली है,..... विस्थापित के साथ टिक कर चल पाने में साहित्यकर्मी की असमर्थता को क्या

---

[23] सृजन उत्सव (साहित्य में .....विस्थापित) : विकास नारायण राय :पृ0 संख्या–09.

बोदापन माना जाये ?"[24] इस प्रकार का सवाल उठना सजग और संवेदनशील व्यक्तियों में स्वाभाविक है। क्योंकि विस्थापन की प्रक्रिया से जहां एक ओर लोंगों की आर्थिक स्थिति लगातार बदतर होती गई वहीं आदिवासियों की स्थिति भारत में ही नहीं कमोबेश पूरे विश्व में अच्छी नहीं है। वह भले ही विकसित और विकासशील देश ही क्यों न हो।

(iv) प्राकृतिक आपदा से विस्थापन :

प्राकृतिक आपदा भारत और विश्व की ही नहीं, सम्पूर्ण मानव समाज की समस्या है। कहीं बाढ़ मानव जीवन के लिए काल बन कर आती है तो कहीं भूकम्प की प्रचंडता व्यापक विनाश लाती है । 26 जनवरी 2001 को गुजरात में आए विनाशकारी भूकम्प से पैदा हुई समस्याओं का उल्लेख यहां जरूरी है। यह चुनौती अधिक महत्वपूर्ण हो गई है क्योंकि इस प्राकृतिक आपदा ने पर्यावरण को अचानक नुकसान पहुंचाया है और जीवन तथा सम्पति की ऐसी तबाही हुई कि सामान्य सामाजिक आर्थिक चक्र अव्यवस्थित हो गया है। उसे सामान्य स्थिति में लौटाना बिल्कुल मुश्किल हो गया। अतः कही जा सकता है कि "आपदा न सिर्फ विकासवादी प्रयासों को रोक देती है, संसाधनों को बर्बाद करती है बल्कि विकास में भी बाधा पहुंचाती है।"[25] इसके साथ ही "आपदा का अर्थव्यवस्था पर जो सीधा प्रभाव पड़ता है, उसमें बुनियादी ढांचा, फसल और उत्पादक परिसम्पतियों का नुकसान तो शामिल है ही, राहत और बचाव कार्यों से वित्तीय बोझ भी काफी बढ़ता है। अपरोक्ष रूप में आपदा से उत्पादन में कमी, आमदनी में कमी, बेरोजगारी, गरीबों के ऋण में बढ़ोतरी और वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य आदि में वृद्धि होती है।"[26] जिसके परिणाम स्वरूप कई लोग वहां से पलायन कर गए।

---

[24] सृजन उत्सव (साहित्य में .....विस्थापित) : विकास नारायण राय :पृ0 संख्या–10.

[25] योजना : जुलाई ,2001– पृ0 संख्या –24.

[26] योजना : जुलाई ,2001– पृ0 संख्या –24

भौगोलिक स्थिति के कारण भारत में लगातार प्राकृतिक आपदाएं आती रहतीं हैं । शायद ही कोई ऐसा वर्ष हो जब देश का कोई भाग 'सूखे, बाढ़, तूफान, भूकम्प या चटटानें खिसकने जैसी समस्याओं से न जूझता हो। यह सभी एक स्वीकार्य तथ्य है कि प्राकृतिक आपदाओं को आने से रोका नहीं जा सकता। लेकिन समाज और अर्थव्यवस्था पर उनके प्रभाव विभिन्न एहतियाती कार्यक्रम अपनाकर काफी हद तक कम किया जा सकता है। इसके साथ ही इन क्षेत्रों से लोंगों के विस्थापन के रोका जा सकता है, क्योंकि हम जानते है कि इस प्रकार के प्राकृतिक आपदाओं से समाज के गरीब और कमजोर लोग सबसे अधिक प्रभावित होते हैं।

(ख) विस्थापन के सामाजिक –राजनीतिक संदर्भ :

सभ्यता के विकास से लेकर आज तक मानव समाज में विस्थापन जारी है। प्राचीन काल में एक सभ्यता के लोग दूसरे सभ्यता पर अपनी जीत हासिल करने के लिए युद्ध करते थे। युद्ध में पराजित लोग या तो मारे जाते थे या जान बचाकर भाग जाते थे। अपने मूल स्थान से हट जाना ही विस्थापन है। लेकिन किसी मजबूरी या विवशतावश अपने स्थान से चले जाना लाचारीवश विस्थापन है। इस प्रकार "लाचार का विस्थापन प्रायः इसके अनवरत राजनैतिक दमन–आर्थिक शोषण सामाजिक क्षरण का विस्तार ही है। अपनी जमीन से जड़हीन उजड़ने पर एक अलग दुनिया में जरा सी सहारे के लिए आदमी क्या नहीं भुगतता।"[27] यह लोगों के लिए एक विकट समस्या बन कर आती है जिससे उनका जीवन जीव जंतुओं से बदतर हो जाती है। ऐसा माना जाता है कि "ओमान, जहां खाड़ी के अन्य देशों की तुलना में भारतीय कामगारों को कुछ सम्मान से रखा जाता है, में औसतन चार–पांच युवा कामगर हर हफ्ते आत्महत्या कर लेते हैं। ऐजेंट को लाखों देकर मिले कई परमिट की मियाद पूरी हो गई, एक कोठरी में 8–10 के साथ सुअरों की तरह ठूंसकर रहने और पेट काटकर बचाने के बाद इतना नहीं बचा पाते कि घर–जमीनें गहने बेचकर वहां भेजने के पीछे की पारिवारिक आस

---

[27] सृजन उत्सव (साहित्य में .....विस्थापित) विकासनारायण राय, पृ.09

को पूरा कर सकें; जिस दिन आव्रजन पुलिस से छिपते हताशा चरम पर बढ़ी और कमरा अकेला मिला कि छत से लटक गए। इतना ही बवाल थोड़े है। अब लाश को वापस गांव ले जाना है जो जिंदा आने से भी ज्यादा खर्चीला है। हफ्तों इंतजार होगा। भारतीय दूतावास के मार्फत इक्कठे चंदे से जहाज चढ़ने की नौबत आएगी।"[28] आर्थिक कारण मानवीय विस्थापन के महत्वपूर्ण कारणों में से एक है। जिसके प्रकोप से संपूर्ण संसार त्रस्त है। इस प्रकार हम पाते हैं कि एक ओर भूखा और नंगे लोग रोजगार की तलाश में विभिन्न प्रदेशों के पलायन कर रहे हैं। दूसरी ओर युद्ध और विभाजन की त्रासदी मानवीय विस्थापन को और अधिक उत्प्रेरित करती है। प्रत्येक युद्ध के बाद लाखों लोगों को विस्थापित होना पड़ता है। प्रथम विश्व युद्ध से लेकर आज तक के युद्धों की विभीषिका को देखा जा सकता है। जिससे जान–माल की छति तो होती ही है, देश और प्रांतों की आधारभूत संरचनाएं भी प्रभावित होती हैं। इसके साथ ही युद्धों और विभाजन में सर्वाधिक मानवीय मूल्यों की हत्या होती है। जिसका विस्तृत विवरण साहित्य में देखा जा सकता है।

लोगों का विचार है कि साहित्य समाज का दर्पण है। यदि साहित्य समाज के साथ नहीं चल पाता है, खासतौर पर निरूपाय, दलित, शोषित तबकों के साथ तो इसे साहित्य का पिछड़ेपन की निशानी मान लेनी चाहिए। जिस प्रकार "1947 में हिंदी साहित्य अभी पिछड़ा साहित्य था, लिहाजा विभाजन के विस्थापितों को समुचित दर्ज नहीं कर पाया। पर उसके बाद देश के भीतर–बाहर राजनीतिक ही नहीं आर्थिक विस्थापनों का भी सिलसिला लगातार चलता रहा है। उन्हें कारगर रूप से दर्ज करने में साहित्य की असमर्थता को उसकी सुविधापरस्ती की बानगी भी कहा जाना चाहिए।"[29] लेकिन उस दौर को लेकर "उर्दू और बंगला साहित्य ने कारगर दखल अंदाजी करते हुए एक ऐतिहासिक संतुलनकारी भूमिका निभाई।

---

[28] सृजन उत्सव (साहित्य में .....विस्थापित) : विकासनारायण राय, पृ.09

[29] सृजन उत्सव (साहित्य में .....विस्थापित) : विकासनारायण राय, पृ.08

सामाजिक सरोकारों को कचोटकर मानवीय शक्ल देने में एंव कुंद संवेदनाओं को झकझोर कर होशों हवास में रखने में तब से दोनों देशों के बीच की राजनीति बेशक बदरंग होती गई, पर उस पर परस्पर महात्रासदी को एक ही रंग में देखा जा सकता है।"[30] परंतु यह भी सच है कि विभाजन को लेकर हिंदी की अपेक्षा उर्दू में अधिक और श्रेष्ठ उपन्यास लिखे गए हैं। क्योंकि देश का विभाजन ही सांप्रदायिकता के आधार पर हुई थी। जिससे उर्दू के लेखकों पर ही बंटवारे का सर्वाधिक एवं प्रभूत असर पड़ा। इनका संपूर्ण जीवन उलट–पुलट गया। हिंदी के लेखकों को इस तरह की भीषण संकटों का सामना नहीं करना पड़ा। यदि गौर से देखा जाय तो पाते हैं कि परिणाम और गुण दोनों ही दृष्टि से हिंदी तथा उर्दू रचनाकारों के जीवनानुभवों में जो अंतर है, विभाजन की त्रासदी और उस समय की घटनाओं का प्रभाव उर्दू की रचनाओं पर स्पष्ट है।

लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि हिंदी साहित्य में कम लिखा गया या स्तरीय रचनाओं की कमी है? समय की विकटता और समाज की विहंगम त्रासदी ने साहित्यकारों को तत्काल समझने का मौका ही नहीं दिया। क्योंकि स्वतंत्रता के साथ विभाजन एक असहज और बड़ी घटना थी, जिसकी पूरी गंभीरता को तत्काल समझ पाना कठिन था। उसने ऐसी संक्रमणशील परिस्थितियों को जन्म दिया, जिनमें सब कुछ अस्थिर, अस्त–व्यस्त एवं अनिश्चित हो गया। स्वीकृति और इंकार, खुशी और गम, आशा और अनिश्चिततापरक निराशा के युगों में चेतना को भग्न एवं खंडित कर दिया। एक ऐसी मानवीय विभीषिका उपस्थित हो गयी थी, इतिहास में जिसका कोई मिसाल नहीं था। अतः यह काल किसी बड़ी साहित्य साहित्यिक कृति के लिए परिस्थितियां अनुकूल नहीं रह गयी थी। हिंदी साहित्य पर विभाजन के तात्कालिक प्रभाव के बारे में देवी शंकर अवस्थी का विचार है कि "युद्ध के समाप्त होने, विभाजन से उत्पन्न अनके समस्याओं तथा राजनीतिक दलों की स्वार्थपरता के आगे सारा भविष्य धुंधला हो उठा। अतः प्रारंभिक वर्षों के हिंदी

---

[30] सृजन उत्सव (साहित्य में .....विस्थापित) विकासनारायण राय, पृ.11

साहित्य में एक निराशा, क्षोभ, अनास्था, वैयक्तिक कुंठा, एवं विघटन की कड़वाहट देखी जा सकती है। यह इतनी बड़ी दुश्चिंता का समय था, जबकि लेखक को रचना के लिए अपेक्षित एकाग्रता प्राप्त करना अत्यंत कठिन हो गया। संभवतः इसी कारण इस क्षोभ को अभिव्यक्ति देने की चाह हेते हुए भी श्रेष्ठ कलाकृति एक भी नहीं आ सकी।"[31] अतः विभाजन ने साहित्य में पस्ती, टूटन और निराशावादिता को जन्म दिया लेकिन उर्दू में बहुत बाद तक प्रकट होती रही।

हिंदी तथा साहित्य में जगदीश चंद्र के हिंदी उपन्यास 'मुठ्ठीभर कंकर' में दुनीचंद दिल्ली का एक देहाती बनिया है। जो विस्थापित पंजाबियों की कारोबारी स्पर्धा से तंग होकर कहता है। "साहिब जी, ये कहां का न्याय है, कि उजड़े हुए लोगों को बसाने के लिए मूल कदीम से बसे लोगों को घर से उजाड़ा जाए और फिर उन्हें कहीं और बसाया जाय।"[32] सरकार लाखों विस्थापितों को बसाने के लिए दिल्ली के चारों तरफ खेती की जमीनें अधिग्रहित कर रही थी। सर्वविदित है ऐसी परिस्थितियों का लाभ प्रायः बिचौलिये और दलालों को हुआ करता है। क्योंकि सीधे–सादे किसानों से औने–पौने दाम पर जमीन खरीदकर सरकार को उच्च दामों पर बेचते हैं। जिस प्रकार "बहती गंगा में हाथ धोते हुए स्थानीय चौधरी उत्तम प्रकाश और पंजाबी विस्थापित रणजीत ने साझा कंपनी बनाकर किसानों की बाकी जमीनें औने–पौने में खरीदनी शुरु कर रखी थी। जो व्यावसायिक इस्तेमाल के लिए बेचकर वे मोटा मुनाफा बना रहे थे। स्थानीय रिश्तों के दम पर उतम प्रकाश ने एक किसान समूह को घेरा। रणजीत उन्हें शराब में उतारकर पटरी पर लाया। सौदा पट गया तो किसान उनकी कार में बैठकर चले गए। रणजीत बोला 'प्रकाश ठीक हो गया न।' फर्स्ट रेट, उत्तम प्रकाश ने कहा।"[33] ठीक ही कहा गया है कि बिचौलिये और दलालों के कोई रिश्तेदार नहीं

---

[31] सृजन उत्सव (साहित्य में .....विस्थापित) : विकासनारायण राय, पृ.11

[32] सृजन उत्सव (साहित्य में .....विस्थापित) विकासनारायण राय, पृ.12

[33] सृजन उत्सव (साहित्य में .....विस्थापित) विकासनारायण राय, पृ.12

होते हैं। क्योंकि उन पर विश्वास करना अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारने के बराबर है। दलाल और ठेकेदार किसानों की बर्बादी का प्रमुख कारणों में से है। क्योंकि किसान इन दलाल और ठेकेदार के झांसे में आ जाते हैं।

यदि हम यह कहें कि 'मुठ्ठीभर कांकर' जैसी रचनाएं शायद मुठ्ठी भर ही है, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। परंतु राजनैतिक विस्थापनों के बवंडर हमारे विश्व भूगोल में हमेशा उड़ते रहे हैं। 'पूर्वी पाकिस्तान के बंगाली, सिंध के मुहाजिर, बांग्लादेश के बिहारी, भूटान के नेपाली, श्रीलंका के तमिल, तिब्बती, चकमा, काश्मीरी, पंजाब से दिल्ली में, समूचे उत्तर पूर्व में। साहित्यकार ने जब–जब करवट ली नास्टेलजिया की गिरफ्त में पड़े–पड़े छिटपुट रचना और संवेदना पर आ पड़े, नये बोझ उतारकर परे रख दिया।"[34] अतः कहा जा सकता है कि "विभाजन के ही दो वरिष्ठ गवाह आज भी हमारे बीच सक्रिय है -- भीष्म साहनी और कृष्णा सोबती। साहनी के प्रकाशमान उपन्यास 'तमस' से विभाजन की मार–काट आने वाली नस्लों के लिए सबक बनी पर उसके बाद उनके लिए वे विस्थापित 1984 के सिख दंगों में ही उजागर हुए–47 साल लंबा 'छिट–पुट' और फिर चुप्पी। सोबती ने विभाजन पूर्व पंजाब की जिंदगी का अप्रतिम 'जिंदगीनामा' लिखा पर विभाजन से जुड़े विस्थापन उनके लिए महज सामंती रिश्तों का पुनर्गठन रहे"[35] केवल 'सिक्का बदल गया' में विस्थापन की समस्या को दर्शाने का प्रयास किया है। अन्यथा चुप रहना ही उचित समझा है।

(ग) विस्थापन के मनोवैज्ञानिक आयामः

विस्थापन की समस्या मानवीय जीवन को इतना प्रभावित करती है कि लोग आत्महत्या करने तक को मजबूर हो जाते हैं। लोगों का मनोवैज्ञानिक असंतुलन उस समय और बढ़ जाता है जब उन्हें आकांक्षा के अनुकूल सफलता नहीं मिलती है। जिस प्रकार खाड़ी देशों में काम करने वाले 'औसतन चार–पांच

---

[34] सृजन उत्सव (साहित्य में .....विस्थापित) विकासनारायण राय, पृ.12

[35] सृजन उत्सव (साहित्य में .....विस्थापित) विकासनारायण राय, पृ.12

युवा कामर हर हफ्ते आत्म हत्या कर लेते हैं। क्योंकि ऐजेंट को लाखों देकर मिले वर्क–परिमट की मियाद पूरी होने के बावजूद इतना नहीं बचा पाते कि घर जमीने गहने बेचकर वहां भेजने के पीछे की पारिवारिक आस को पूरा कर सकें।[36] यह विवशता और घुटन उनकी जान ले लेती है। गोर्की के इतावली कहानी 'प्रतिशोध' में विस्थापन की कसक देखी जा सकती है "आदमी को वहीं बढ़ना और फलना–फूलना चाहिए जहां भगवान ने उसे जनम दिया हो, जहां की धरती और जहां पर उसकी प्रियतमा उसे प्यार करते हों।"[37] लेकिन यह सुख सब आदमी को कहां नसीब होता है। समय की विकटता और परिस्थिति की क्रूरता लोगों को आराम से नहीं रहने देता।

विभाजन स्वरूप विस्थापित लोगों की मनोवैज्ञानिक आयाम को यशपाल ने बखूबी उकेरा है। ये विस्थापितों की आवास और रोजगार संबंधी समस्याएं तथा उनमें होने वाले परिवर्तनों के विविध चित्र प्रस्तुत करते हैं। विस्थापित लोगों के लिए आवास की समस्याएं प्रमुख थीं। विभाजन के बाद भारत में रह रहे मुसलमानों के एक भाग को इसलिए भी पाकिस्तान भागना पड़ा, क्येंकि शरणार्थी उनके मकान चाहते थे। "शरणार्थी अपने वतन से निकाल देने वाले संप्रदाय के लोगों को अपनी छाती पर कैसे बैठा रहने देते। उन्हें उनके मकानों की जरूरत थी।"[38]यह अंशतः ही माना जा सकता है, लेकिन सबसे महत्वपूर्ण है मानवीय संवेदनाओं का मर जाना। इसी तरह बलवंत सिंह का उपन्यास 'काले कोस' पश्चिमी पंजाब के ग्रामीण जीवन से संबंधित है। जहां पर सांप्रदायिक सौहार्द, मेलजोल, तथा मित्रता का वातावरण है। बलवाइयों और लूटेरों के खिलाफ चारों गांव के हिंदू, सिख और मुसलमान मिलकर लड़ते हैं। लेकिन हिंदुओं और सिक्खों को अंततः सैनिक सुरक्षा में गांव छोड़ना पड़ता है और वे विस्थापन का दर्द झेलते हैं। ऐसी परिस्थिति में "गोविन्दी की मां के पांव तले से मानो धरती ही सरक गई।

---

[36] सृजन उत्सव (साहित्य में .....विस्थापित) : विकासनारायण राय, पृ.09

[37] सृजन उत्सव (साहित्य में .....विस्थापित) : विकासनारायण राय, पृ.09

[38] झूठा सच : यशपाल – भाग–2, पृ.24

वर्षों की मेहनत से बनाया हुआ, उसका साज–सामान सब कुछ छोड़–छाड़ के जाना पड़ रहा था।"[39] इस प्रकार एककाएक वे लोग बेघर–बार हो गए। जिससे मुसीबतों के अंबार में धंस जाते हैं। इन समस्याओं से उबरने में सदियों लग जाते हैं। विभाजन की त्रासदी ने कितने लोगों को विस्थापित किया, इसका अंदाजा लगाना अत्यंत कठिन कार्य था। इसके साथ ही उनके संवेदनाओं को टोह पाना तो समुद्र मों गोता लगाने के बराबर था। लेकिन इतना सच है कि विभाजन की त्रासदी बर्बरता और तबाही अवसरवादी राजनीति का ही परिणाम था।

विभाजन के प्रभाव में हिंदी में काफी बड़ी मात्रा में साहित्य रचे गये, इसका कारण यह है कि हिंदी के बहुत से रचनाकारों का संबंध पंजाब से रहा है। हिंदी की रचनाओं में पंजाब के विभाजन व सांप्रदायिक दंगों की समस्या ही अधिक उभर कर आई है। भीषण साहिनी की कहानी 'अमृतसर आ गया है' बहुत प्रभावकारी रचना है। इस कहानी में उन्होंने अपने–अपने भौगोलिक क्षेत्र में विभाजन के दिनों में हिंदुओं व मुसलमानों की मनोवैज्ञानिक स्थिति को चित्रित किया है। पाकिस्तान से दिल्ली के लिए गाड़ी आ रही है। जब तक गाड़ी पाकिस्तान के क्षेत्र में है तब तक गाड़ी में बैठे पठान हिंदू यात्रियों को गाडी पर चढ़ने नहीं देते, उनसे दुर्व्यवहार करते हैं। एक दुबले से हिंदू का मजाक उड़ाते हैं। किंतु जब अमृतसर आ जाता है तो दुबला हिंदू बाबू, जो अब तक दब्बू बना बैठा था, शेर हो जाता है। वह मोटे ताजे पठानों को गालियां देता है। जो डर कर डिब्बा छोड़कर चले जाते हैं। दुबला बाबू यहीं बस नहीं करता वरन एक लोहे की छड़ लाकर, एक मुसलमान यात्री की जो गाड़ी पर चढ़ना चाहता है की हत्या कर डालता है। भीष्म साहनी ने इस कहानी के माध्यम से सांप्रदायिक दृष्टि में छिपी अमानवीय संभावना को उघाड़ा है। दुबले बाबू के कार्य व्यवहार के चित्रण द्वारा लेखक ने मानवीय मन का मनोवैज्ञानिक स्तर पर अच्छा अध्ययन प्रस्तुत किया है।

---

[39] काले कोस : बलवंत सिंह , पृ.313, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1974

इसी तरह मोहन राकेश की कहानी 'मलबे का मालिक' में मौलवी गनी साढ़े सात साल बाद हाकी का मैच देखने के बहाने पाकिस्तान से अमृतसर आता है। अमृतसर में वह अपने विभाजनपूर्व के मकान को देखने जाता है। इसी मकान में रक्खे पहलवान ने उसके बेटे चिरागद्दीन व उसके परिवार की हत्या की थी। मकान पर वह अधिकार जमाना चाहता था, किंतु किसी अज्ञात व्यक्ति द्वारा मकान जला दिए जाने से वह मलबे का ढेर बन गया था। किंतु रक्खा इस मलवे के पास भी किसी को फटकने नहीं देता था। मौलवी गनी यह नहीं जानता कि रक्खा ही उसके बेटे व परिवार का हत्यारा है। वह रक्खे से इतनी आत्मीयता से मिलता है कि रक्खे की जमीर कांपने लगती है। इस प्रकार मोहन राकेश की यह कहानी इंसान की आत्मा को कचोटने वाली सशक्त कहानी है।

इसी प्रकार का मनोवैज्ञानिक प्रभाव विष्णु प्रभाकर की कहानी 'मेरा वतन' में दिखाई पड़ता है। इसमें एक वकील, जो पाकिस्तान बनने पर लाहौर से भारत आ गया है। किंतु इस वकील का मन लाहौर में ही बसा है। वह बार–बार भेस बदलकर लाहौर जाता है तथा अंततः वह मारा जाता है। विष्णु प्रभाकर ने इस कहानी द्वारा संवेदनशील व्यक्तियों पर पड़े विभाजन के प्रभाव को उभारा है। किस प्रकार यह व्यक्ति उदास व अकेले ही गए थे। किस प्रकार उनमें सांस्कृतिक अलगाव की अजीब बेचैन मनःस्थिति पैदा हुई, इसका बड़े प्रभावशाली ढंग से चित्रण हुआ है। इस प्रकार विस्थापन के विविध मनोवैज्ञानिक आयाम देखे जा सकते है।

(घ) विस्थापन और सांस्कृतिक वर्चस्व से जुड़े मुद्दे :

विस्थापन और सांस्कृतिक वर्चस्व से जुड़े मुद्दे पर विचार करने से पूर्व इसको समझना अत्यावश्यक है। ऐसा कहा जाता है कि भारत और उसकी सांस्कृतिक महिमा विश्वजनीन रही है। इनका विभिन्न दृष्टियों से अध्ययन एवं अन्वेषण आवश्यक है। लेकिन सबसे पहले यह जान लेना आवश्यक है कि संस्कृति क्या है। क्योंकि संस्कृति को लेकर विद्वानों में मतैक्य नहीं है।

'संस्कृति' का शाब्दिक अर्थ – "संस्कार युक्त होना, उन्नति करना, बढ़ना, विकसित होना, शुद्ध होना, शिष्ट होना।"[40] डा. बृज बिहारी निगम अपनी पुस्तक 'संस्कृत एवं सभ्यता' में लिखते हैं कि 'संस्कृति' किसी भी देश की, किसी विशिष्ट काल की 'जीवन पद्धति' उसके आदर्श तथा उसके प्राप्त करने की विधियां एवं प्रक्रिया में होने वाले बाध्य एवं आंतरिक परिवर्तन का लेखा जोखा है।"[41] इस प्रकार "जीवन और जगत के उपर्युक्त सभी आयामों के साथ–साथ विभिन्न कलाओं, ज्ञान–विज्ञानों–विधाओं, जाति–वंश, प्रथाओं और रीति–रिवाजों, मनोरंजन के साधनों, माप–विविधयों, लोक–संस्कृति, शिक्षा–नौकरी, व्यवसाय आदि विभिन्न संस्थाओं–यथा, कृषि–संस्था, गृह–उद्योग–संस्था और विवाह–संस्था जैसी संस्थाओं और प्रसिद्ध स्थलों–स्थानों से संबद्ध विविध प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष आयामों की समग्रता ही 'संस्कृति' कही जा सकती है।"[42] प्रत्येक सभ्यताओं की अलग–अलग संस्कृति रही है। जिस प्रकार मेसोपोटामिया की सभ्यता की अलग संस्कृति थी उसी प्रकार सिंधु घाटी सभ्यता की अलग संस्कृति थी। इस प्रकार यह आदिकाल से लेकर उत्तर–आधुनिकता के इस दौर में भी संस्कृति विविध रूपों में विद्यमान है। संस्कृति की जीवंतता और जीवटता का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि "देश भले गुलाम हो, संस्कृति गुलाम नहीं थी। सांस्कृतिक अंतःक्रिया का दूसरी संस्कृतियों से आदान–प्रदान का सिलसिला कभी नहीं थमा, लेकिन संस्कृति की निरंतरता, विविधता और पुनर्रचनात्मकता पर जब भी हमला हुआ, वह लड़ी। यह समूह या झुण्ड की संस्कृति है, जिसने हजारों साल के इतिहास में पहली बार लोक संस्कृति और राष्ट्रीय संस्कृति पर इतना भारी आक्रमण किया है कि संस्कृति की अवधारणा ही बदल गई है–अब कृत्रिमता और विकृति ही संस्कृति है।[43] परिवर्तित अवधारणा के कारण आज शहरी संस्कृति

---

[40] एस.पी. कनल : भारतीय संस्कृति के आधार, पृ.9, पांचाल प्रेस पब्लिकेशन, दिल्ली

[41] ब्रज बिहारी निगमः संस्कृति और सभ्यता : भारतीय दृष्टिकोण, पृ.9, स्मृति प्रका., इलाहाबाद

[42] 'भारतीय संस्कृति की महिमा : विविध आयाम', डा. कृष्ण भावुक, पृ.9

[43] संस्कृति की उत्तर कथा : शंभुनाथ, पृ.174

और ग्रामीण संस्कृति की बात होने लगी है। यह वही "संस्कृति है, जो मनुष्य को दूसरे प्राणियों से अलग करती है, दूसरी जातियों से अलग पहचान देती है और दुःसमय में आजादी की सच्ची प्रेरणा बनती है। कुछ मामलों में दुनिया के सभी मनुष्यों से समान पहचान रखते हुए भी, हर समाज की अपनी स्वतंत्र आकांक्षाओं और जरूरतों के अनुरूप विकसित अपनी विशिष्ठ संस्कृति होती है। वह स्थिर और शाश्वत चीज नहीं है, लेकिन सूचना के आकाश मार्ग से भी नहीं उतरती। वह ठोस समाज से पैदा होती है। वह निरी बाजार की वस्तु नहीं, मूलतः मनुष्य की सृजनात्मक, आलोचनात्मक और आध्यात्मिक क्षमता की उपज है।"[44] यह सच है कि प्रत्येक समाज की अलग संस्कृति होती है। स्वाधीनतापूर्व भारत में "समूह संस्कृति की विकृत और फूहड़ धारा भी अस्तित्व में थी, लेकिन सुधारवादी, राष्ट्रीय और लोकतांत्रिक आंदोलनों ने समाज को इतना रौशन कर रखा था कि स्वाधीनता पूर्व संस्कृति उद्योग को पतनशील और निर्बुद्धिपरक होने का ज्यादा अवसर नहीं मिल सका। उस जमाने का श्रोता, दर्शक और पाठक वर्ग संस्कृति उद्योग का एक जागरूक, कल्पनाशील और आत्म सक्रिय इकाई था। वह संदेह करता था। आक्रोश व्यक्त करता था और त्याग के लिए हमेशा तैयार रहता है। इसलिए भारतीय समाज में स्वतंत्रतापूर्व संस्कृति उद्योग सामान्यतः लोक–संस्कृति, राष्ट्रीय और आधुनिक संस्कृति के उत्थान में सहायक हुआ। वह आक्रामक था भी तो परंपरागत रूढ़ियों के प्रति।"[45] यह सर्वविदित है कि इस देश की लोक–संस्कृति आम जीवन में बसी है, लोक के दुःख और हर्षोल्लास को वाणी देती है। वह कभी क्लासिकल संस्कृति से टकराती है तो कभी अंतर्मिश्रण करती एक जीवंत संस्कृति के रूप में आती है। ऐसा माना जाता है कि एक पिछड़ी अर्थव्यवस्था में संस्कृति भी अनिवार्यतः पिछड़ी अवस्था में और उच्च आदर्शविहीन होगी। लेकिन भारतीय लोक संस्कृतियां इस धारणा का खंडन करती है। यह सच

TH-1294

---

[44] संस्कृति की उत्तर कथा : शंभुनाथ, पृ.174

[45] संस्कृति की उत्तर कथा : शंभुनाथ, पृ.175

Jawaharlal Nehru University Library

है कि हर संस्कृति में बुरे और अच्छे तत्व, मृत और जीवंत तत्व होते हैं। लेकिन हर संस्कृति में एक सामाजिक नरक है। जो लोक संस्कृति में अंध–पुनरावृति की प्रवृति अधिक मजबूत रही है। लेकिन नवोन्मेषी हुए हैं। "संस्कृति आक्रमण और हम" पर शंभुनाथ का विचार है कि "उतर–आधुनिक बुद्धिजीवी 'उच्च संस्कृति' और 'निम्न–संस्कृति' का नव–औपनिवेशिक मुहावरा उठाकर बिना सोचे–समझे लोक–संस्कृति को 'निम्न–संस्कृति' में फेंक देते हैं–इसे सामाजिक नरक के समान समझते हैं।"[46] इसके साथ ही आज भारत के लोग तेजी से सांस्कृतिक आत्मविसर्जन के रास्ते पर बढ़ रहे हैं। सांस्कृतिक आत्मविसर्जन के दो रूप हैं – प्रभेद (डिफरेंसिएशन) और अभेद (डी–डिफरेंसिएशन)। प्रभेद जातीय विखंडता है, जो राज्य से शुरु होकर धर्म–जाति–भाषा और अलग–अलग महानायक से होते हुए किसी एक जनपद के, यह हमारा गांव – वह तुम्हारा गांव या एक ही शहर के 'यह हमारी गली वह तुम्हारी गली तक पहुंच जाता है। अभेद भूमंडलीकरण है। पूरा भूमंडल अब सिर्फ एक अखंड बाजार है।

आज समाज का सबसे बड़ा दर्द यही है कि जिस सदी में अखंड मानवता का बोध जन्मा था, उस सदी के अंत में उसे अखंड बाजार ने निगल लिया। कोई ठंढ से ठिठुरता रहे, भूख से मरता रहे, बीमारी से कराहता रहे, परंतु उसे देखने वाला कोई नहीं होगा। यदि हम कहें अभेद भूमंडलीकरण अखण्ड बाजार ने आदिवासी संस्कृति को सबसे अधिक नुकसान पहुंचाया है। आदिवासी समुदाय अपने मुख्यधारा में जोड़ने के क्रम में एक ओर "अपनी पारंपरिक धार्मिक अनुष्ठानों को छोड़ रहा है और अभी तक गैर आदिवासी संस्थागत धार्मिक रीति–रिवाजों को अपनाता जा रहा है।"[47]दूसरी ओर "हिंदू धर्म के प्रचारक और प्रवक्ता आदिवासी समुदायों को हिंदू ठहराते हैं इसके लिए वे विभिन्न आदिवासी समुदायों का संबंध पौराणिक कथाओं और कथा–नायकों से जोड़ते हैं कुछ आदिवासी समुदाय इस

---

[46] संस्कृति की उत्तर कथा : शंभुनाथ, पृ.175

[47] अरावली उदघोष (आदिवासी विमर्श) : अप्रेल–जून2001, पृ.22

संबंध को स्वीकारते भी हैं।"[48] यह हिंदू धर्म की विडंबना है कि "हिंदू धर्म सुधारक यदि आदिवासियों को हिंदू मानकर उन्हें जोड़ते भी हैं तो उन्हें वर्ण व्यवस्था के चौथे–सबसे निचले पायदान पर शूद्रों की श्रेणी में रखते हैं।"[49] इसके विपरीत यदि हम इसाई मिशनरियों के कार्यकलाप पर ध्यान देते हैं तो पाते हैं कि "पिछले सौ सालों से आदिवासी संस्कृति पर ईसाई मिशनरियों ने अपना विशेष प्रभाव डाला है। 19वीं शताब्दी में इसाई मिशनरियों ने शिक्षा और स्वास्थ्य की परिकल्पना को लेकर आदिवासी समाजों के कल्याण का कार्य शुरु किया था।"[50] इसके साथ ही बहुत से क्षेत्रों में इन्हीं मिशनरियों ने बाइबिल का अनुवाद आदिवासी भाषाओं में किया। मौखिक आदिवासी भाषा के व्याकरण को समझने एवं उस भाषा के लिखित रूप को सुनिश्चित करने के प्रयत्न किए। जिससे आदिवासी भाषाओं को समझा और पढ़ा जा सके। इस प्रकार बहुत दिनों तक आदिवासियों के बीच रहकर तथा उनसे यथार्थ रूप में मित्रवत आचरण करके मिशनरियों ने आदिवासियों के मन में आधुनिकता तथा अपने अधिकारों के प्रति एक स्थाई धारणा विकसित करने में सफलता प्राप्त कर ली थी। लेकिन मिशनरियों के इन सब प्रशंसनीय प्रयत्नों के समानांतर उनके कार्यों के कुप्रभावों की चर्चा न करने पर बात अधूरी रह जाती है। क्योंकि "ईसाई मिशनरियां बहुत गहरे रूप से विश्वास करती है कि ईसाई धर्म ही एक मात्र सच्चा धर्म है और केवल मात्र ईसा मसीह के स्मरण से मनुष्य पापों से मुक्त हो सकता है।"[51] इस एक पक्षीय विश्वास के कारण वे लोग आदिवासियों के सनातन धर्म–विश्वासों के प्रति या तो असहिष्णु हुए या फिर उदासीन बने रहे। यह असहिष्णुता और उदासीनता सिर्फ धर्म–विश्वासों के क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं रही, सनातन आदिवासी जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में रही। ब्रिटिश नृतात्विक बेरियर एल्विन ने अपनी आत्मकथा

---

48 अरावली उदघोष (आदिवासी विमर्श) : अप्रेल–जून2001, पृ.22

49 अरावली उदघोष (आदिवासी विमर्श) : अप्रेल–जून 2001, पृ.22

50 अरावली उदघोष : आप्रेल–जून 2002, पृ.24 (चेतना अंक)

51 अरावली उदघोष : अप्रेल–जून 2002, पृ.24 (चेतना अंक)

में लिखा है कि "मिशनरियों की आदिवासियों के प्रति असहिष्णुता की वजह से बहुत सारे अच्छे सामाजिक रीति–रिवाज तो खत्म हुए ही, यहां तक कि नृत्य, गीत तथा तांत बुनाई–जैसे उन्नत सांस्कृतिक क्रिया–कलाप भी ध्वस्त हो गए। मिशनरियों द्वारा दी गई शिक्षा ने सचेतन रूप से आदिवासियों के सांस्कृतिक इतिहास भूलाकर, उन्हें एक नई संस्कृति में ढालने की कोशिश की है। इस नई सांस्कृतिक चेतना के जागरण के कारण जहां एक ओर सनातन संस्कृति के विषय में इन लोगों में एक प्रकार की हीनता पैदा होती है।"[52] जिसके परिणामस्वरूप अब तक एक आदिवासी गांव अखण्ड–अविच्छिन्न हुआ करता था। उस गांव के लोगों का एक सा धर्म–विश्वास हुआ करता था, एक–सी सामाजिक चेतना होती थी। आज बहुत से आदिवासी गांवों में दो मोहल्ले होते हैं। एक ईसाईयों का और दूसरा उनका जो गैर ईसाई है।

अतः कहा जा सकता है कि इस आंतरिक उपनिवेश ने आदिवासी की सहज–जिंदगी को ही अस्त–व्यस्त नहीं किया, उनकी पहचान को विकृत किया है। उनके आत्मविश्वास को तोड़ा है और इससे उनकी आत्मछवि को आघात लगा है।

---

[52] अरावली उदघोष : अप्रेल–जून 2002, पृ.24 (चेतना अंक)

अध्याय–द्वितीय

हिंदी उपन्यास : विस्थापन की वेदना और आदिवासी जीवन

(क) महाजनी शोषण संदर्भ आदिवासी विस्थापन

(ख) विकास नीतियों के असंगत कार्यान्वयन और विस्थापन

(ग) आजीविका की खोज में पलायन

(घ) विस्थापन और जनजातीय समाज में परिवर्तन

(ड.) विस्थापन और आदिवासी महिलाओं की स्थिति

हिंदी उपन्यास : विस्थापन की वेदना और आदिवासी जीवन

विस्थापन की प्रक्रिया प्राचीन काल से चलती आ रही है। यह विश्व के सभी भागों में देखा जा सकता है। एक ओर यह प्रकिया विकास का आंकड़ा है तो दूसरी शोषण और बर्बादी को चरम तक पहुंचा दिया है। हम सभी जानते हैं कि आर्थिक शोषण की प्रणालियां आज दुनिया के भूगोल में जिस तरह असहाय विस्थापितों का हजूम पैदा कर रहा है, वह महत्वपूर्ण है। आधुनिक युग के हर क्षेत्र में विकास की तकनीकें भी विस्थापन की प्रकिया को उत्प्रेरकता प्रदान करती हैं।

साहित्य समाज का दर्पण होता है। यह विकास के सभी पहलुओं पर समान दृष्टिकोण रखती है। इसके साथ ही समाज में व्याप्त समस्याओं को बखूबी उकेरने का प्रयास करती है। आज जब हम दासता भरे विस्थापनों के पुराने चलन को समाज में अपने चारों ओर पाते हैं तो मन भावुक हो उठता है। हम सभी जानते हैं कि विस्थापन के कई रूप समाज में आज भी व्याप्त हैं। जैसाकि कर्ज से लदे किसान, बालश्रम, छटनी भरी जिंदगी और धरती ढूंढ़ते आदिवासी इत्यादि। आदिवासियों के कई प्रजातियां हैं जैसे–आस्ट्रो आस्ट्रेलाइड, द्रावियन, नीग्रेटो आदि, लेकिन सभी की समस्या लगभग एक समान है। जिस प्रकार अफ्रीकी महादेशों में नीग्रो पर गोरों की बर्बरता है उसी प्रकार अमेरीकन ने 'रेड इंडियन' को सताया है। भारत में भी आदिवासी और दलितों की बहुत अच्छी स्थिति नहीं रही है। प्रायः सर्वत्र देखा गया है कि विकास और उन्नति की गाज इन्हीं आदिवासियों पर प्रायः गिरती है। जिसके कारण विश्व के लगभग सभी आदिवासियों ने अपनी–अपनी रक्षा और जीवकोपार्जन हेतु विभिन्न दिशाओं में विस्थापित हुए। इसके साथ ही कभी प्राकृतिक आपदा तो कहीं मानव सृजित विकटता से आदिवासी समाज अपने को अलग करते रहे। कभी कभी तथाकथित मुख्यधारा के लोगों से बचने हेतु अन्यत्र चले जाते हैं। जिससे वे लाचार और दयनीय जीवन जीने को मजबूर होते हैं। हम सभी जानते हैं कि लाचार का विस्थापन प्रायः उसके अनवरत राजनैतिक दमन, आर्थिक और सामाजिक शोषण के साथ–साथ दैहिक शोषण के भी शिकार बनते हैं। अपनी जमीन

से समूल उजड़ने वाला आदमी एक अलग दुनिया में थोड़ी सी सहारे के लिए क्या नहीं करता है। विस्थापन आज समाज की विकट समस्या है लेकिन इस विस्थापनकारी समस्या का समाधान कभी ठीक से नहीं खोजा गया जिससे आज पूरे विश्व पीड़ित हैं। स्वतंत्रता के पचास वर्षों में (आज तक) भारत में करोड़ों लोग अकेले सरकारी मशीनरी द्वारा विस्थापित किये जा चुके हैं। बहुत से लोग तो कई–कई बार। लेकिन यदि देखा जाय तो इस विस्थापन से आदिवासी जन–जीवन सर्वाधिक प्रभावित हुआ है।

(क) महाजनी शोषण संदर्भ आदिवासी विस्थापन :

आदिवासी क्षेत्रों में रहने वाले बहिरागत कालान्तर में भले ही अपने को सादान (सदा से रहने वाला) कहते हों ,लेकिन उनका आदिवासियों के प्रति कोई सहानुभूतिपूर्ण रवैया नहीं के बराबर रहता है। जैसाकि 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में आदिवासियों के प्रति सहानुभूति रखने वाले मास्टर के प्रति साहू लोगों के सामने विष उगलते हैं। जैसाकि ''रूदिया को आँखों से चबाते, आँखों से निगलते, आँखों से पीते साहू ने आँखें गोल–गोल फैलाते हुए कहा बाघ भालू ,गीध, कौए और सियार से भी ज्यादा खतरनाक होता है। दीकू और दीकुओं में भी सबसे जहरीला होता है कौमनिस्ट.....।''[1] साहूकार और महाजनों ने आदिवासियों को हमेशा से ही दिकभ्रमित किया है, उनका हमेशा से प्रयास रहा है कि आदिवासियों को ज्ञानज्योति से कुंद रखा जाए। इसलिए इनको शिक्षा आदि से दूर रहने की सलाह दी जाती रही है और बेचारा आदिवासी समझ नहीं पाता है कि उनका हितैषी कौन है और दुश्मन कौन? इनके अज्ञानता या सीघापन का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है ''रूदिया का बाप जतरा मुण्डा पहान है गजलीठोरी का। गाँव का प्रधान पुजारी है ....। जतरा मुण्डा कहता है–दुनिया के सभी जीवों में सबसे जहरीला होता है शंखचूड़ ...! शंखचूड़ यानी काला नाग, जिसके फन पर खड़ाउँ जैसा छापा होता है, पर साहू तो कुछ और ही कह रहा है। कोमनिस का फन कितना बड़ा होता है

---

[1] पठार पर कोहरा –राकेश कुमार सिंह,पृ.11.

साहू? पूछ ही डालती है रूदिया, पलाश पत्ते से भी बड़ा ?.....तुम लोंगों से तो कुछ बतियाना भी मोसकिल समझाना तो ढेला पीसकर तेल काढ़ने के बराबर ।''[2] इस प्रकार साहू कौमनिस को सबसे जहरीला जीव के रूप में प्रचारित करता है जिससे ये सीधे–सादे आदिवासी इस शिक्षक से ज्ञान प्राप्त न कर सके। क्योंकि आदिवासी शिक्षित हो जाएंगे तो उनका शोषण करना मुश्किल हो जाएगा। महाजनी शोषण हो या अंग्रेजी दोनों ही स्थिति में समाज के नीचले तबके के किसान–मजदूर ही इसका शिकार होता है। तभी तो जमींदार गांववालों को आदिवासियों के बारे में बताते हैं। "नीलहे साहबों के नील के हौज ज्यादातर इन्हीं इक इंसानों के काले शरीर के पसीने से भरे रहते हैं।"[3] इससे यह तो स्पष्ट है कि आदिवासी मेहनती होते हैं लेकिन दो वक्त की रोटी जुटाने में पूरी जिंदगी बीत जाती है। इसका कारण है साहूकार और महाजनी शोषण। इन कारणों से आदिवासी के पास भूमि होते हुए भी भूमिविहीन हो गए। जैसाकि उपन्यास 'पठार पर कोहरा' को पढ़ते हुए लगता है।'' गाँव के अधिकतर घनखेत बेचू तिवारी और गगन बिहारी साहू की ही मिल्कियत है। आदिवासी तो बस उनके खेतों में रोपने–काटने का काम करते हैं।''[4] मजदूरी के एवज में मिली फसल से अपना गुजारा होता है। इसके साथ ही जमींदार उनकी सादगी और जीवटता के बारे में बताते हैं कि "साहबों के कोड़ों की मार खाकर, जमींदारों की कचहरियों में दिन–भर मोगलिया बांधी (एक कड़ी सजा) की सजा भुगतने के बाद शाम को मोहन की जादू भरी वंशी बजी और सब कष्ट दूर हो गए।

रिंग रिंग ता धिन–ता

डा डिग्गा डा डिग्गा.... ।"[5]

इन आदिवासियों की स्थिति वैसा ही प्रतीत होता है जैसा कि 'गोदान' में प्रेमचंद का 'होरी' ऋण तले दबकर कहता है कि पांव तले यदि अपनी गर्दन दबी हो

---

2 पठार पर कोहरा –राकेश कुमार सिंह,पृ.13.

3 मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु, पृ.101

4 मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु, पृ.101

5 मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु, पृ.101.

तो पांव सहलाने में ही उसकी भलाई है। ऐसी विवशता किसान और मजदूर वर्गों में ही देखा जा सकता है।

हम सभी जानते हैं कि ग्रामीण जनता बाजारवाद की अवधारणा को नहीं जानते हैं। मैला आंचल में रेणु जी भी इसी को दिखाने का प्रयास किया है। "गांव के लोग अर्थशास्त्र का साधारण सिद्धांत भी नहीं जानते। सप्लाई और 'डिमांड' के गोरख–धंधे में वे अपना दिमाग नहीं खपाते हैं। अनाज का दर बढ़ रहा है : खुशी की बात है। पाट का दर बढ़ रहा है बढ़ता जा रहा है, और भी खुशी की बात है। पंद्रह रूपये में साड़ी मिलती है तो बारह रूपये मात्र धान भी तो है। हल का फाल पांच रूपये में मिलता है, दस रूपये में कड़ाही मिलती है तो क्या हुआ? पाट का भाव भी तो बीस रूपये मन है। खुशी की बात है।"[6] प्रायः सभी गांवों की स्थिति एक जैसी ही है। गांव के लोग छल–कपट से दूर निश्छल प्रेम भाव से जीवन व्यतीत करते हैं। "शहर–बाजार की समझ न होने के कारण आदिवासी शहरों में प्रायः ठगे भी जाते हैं। कभी निमोंछिए शहरी लौंडे भी धौंस–रौब दिखाकर सोने जैसी चीजें कौड़ियों के मोल उठा लेते हैं। कुल मिलाकर जंगल के बाहर व्यापार करने जाने में हजार झमेले हैं। साहू तो अपने जंगल का अपना ही आदमी है।"[7] बाजारवाद से यदि किसी को सर्वाधिक लाभ होता है तो वह महाजन और साहूकारों को होता है। जैसाकि मैला आंचल में "अनाज के ऊँचे दर से गांव के तीन ही व्यक्तियों ने फायदा उठाया है–तहसीलदार साहेब ने, सिंध जी ने और खेलावन सिंह यादव ने। छोटे–छोटे किसानों की जमीन कौड़ी के मोल बिक रही है। मजदूरों को सवा रूपये रोज मजदूरी मिलती है। लेकिन एक आदमी का भी पेट नहीं भरता। पांच साल पहले सिर्फ आने रोज मजदूरी मिलती थी और उसी में घर–भर के लोग खाते थे।"[8] यही बाजारवाद का सबसे बड़ा गुण माना जा सकता है। गरीबों की आर्थिक उत्थान की जगह निरंतर गिरती जाती है। प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि के बावजूद जीवन स्तर

---

6 मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु,.पृ.117.

7 पठार पर कोहरा –राकेश कुमार सिंह,पृ.18.

8 मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु,.पृ.117

में कोई बदलाव दिखाई नहीं पड़ता है। उनके जीवन बद से बदतर होती जाती है। इसके विपरीत बुजर्वा वर्ग की स्थिति अच्छी होती जाती है। मजदूर वर्ग और गरीब किसान की स्थिति ऐसी है कि "कपड़े बिना सारे गांव के लोग अर्धनग्न हैं। मर्दों ने पैंट पहनना शुरु कर दिया है और औरतें आंगन में काम करते समय एक कपड़ा कमर में लपेटकर काम चला लेती हैं। बारह वर्ष तक के बच्चे नंगे ही रहते हैं।"[9] ऐसी स्थिति के लिए कहीं न कहीं समाज के साहूकार और शोषक वर्ग ही जिम्मेवार है। गरीब जनता जहां निर्धनता के कारण फटा तथा कम कपड़ा पहनता है वहीं पूंजीपति वर्ग और बुर्जवा का फटा और कम कपड़ा पहनना फैशन है। आधुनिकता को प्रमाणित करने का प्रशस्ति पत्र है।

सभी जगह शोषण वर्गों का एक जैसा रूप एवं रंग होता है। वह साहूकार या जमींदार ही क्यों न हो। उसका एक और एक मात्र कार्य शोषण होता है जिससे कि अधिकाधिक लाभ उठाए जा सके। उनको किसी देश, समाज और समुदाय की चिंता नहीं होती है। इन लोगों की कार्यकलापों के कारण ही मंगल की उम्मीद टूट चुकी है। वे कहते हैं "हर टोले के लोग आपस में ही लड़ेंगे क्या? कोयरी टोला के भजू महतो की जमीन उसी का भगना सरूप महतो बंदोबस्ती ले रहा है। सोबरन की जमीन पर उसका चाचा रामेसर नजर लगाए बैठा है। सोबरन की जमीन सोना उगलती है। यादव टोली के सभी रैयतों की नीलाम हुई जमीन खेलावनसिंह यादव ले रहे हैं। संथालों की जमीन राजपूत टोले के लोग ले रहे हैं.....सुमरितदास कहते हैं, यह बात गुपुत है। किसी से कहना मत कि संथालों की जमीन खुद तहसीलदार साहेब ले रहे हैं। लेकिन, अपने नाम से तो नहीं ले सकते। इसलिए दूसरों के नाम से लिया है।"[10] इस प्रकार शासक वर्ग अपने स्वार्थ के लिए किसी भी हद तक जा सकते हैं। इनके लिए संबंधों का कोई महत्व नहीं होता है। संबंधों का उपयोग स्वार्थसिद्धि में ही करते हैं। ये लोग धन के इतने अंधे होते हैं कि साम दाम दण्डभेद

---

[9] मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु,.पृ.117

[10] मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु. पृ.165

का इस्तेमाल करने से हिचकते नहीं हैं। कहने को तो ये तथाकथित न्यायवादी और गरीबों का उत्थान करने वाले पुरोधा हैं।

तहसीलदार हरगौरी संथालों को बाहरी कहकर उनकी जमीन हथियाने का सुनहरा अवसर अब हाथ से जाने नहीं देना चाहते हैं। जिसके लिए तहसीलदार हरगौरी किसी भी प्रकार की पैंतरा चूकने को तैयार नहीं हैं। जिसका आभास बिरसा मांझी को हो चुका है। जिसके कारण बिरसा मांझी सोचने को विवश हैं कि "तहसीलदार हरगौरी का सिपाही आज जमीन सब देख रहा था – अखता भदै धान पक गया है। काटेंगे क्या! किस खेत में कौन धान बोएंगे? तो क्या सचमुच में संथालों की जमीन को छुड़ा लेंगे तहसीलदार? जमींदारी प्रथा खतम हुई, लेकिन तहसीलदार जमीन से बेदखल कर रहा है.....बात समझ में नहीं आ रही है.....क्या होगा? कल ही देखना है। जमीन पर हल लेकर आवेगा तहसीलदार, भदै धान काटने आवेगा, तब देखा जाएगा। पहले से क्या सोच–फिकर?.....वह अब लैटा नहीं रह सकता!"[11] ऐसे में किसान के दिलों पर क्या गुजर रहा होता है यह तो एक किसान ही बेहतर बता सकता है। वह किसान असमंजसता की विशाल भंवर में डूबकी लगा रहा होता है। वह अब डूबेगा तब डूबने की स्थिति में है। कहने को तो वे सीधे–सादे किसान बेचारा जानता है कि इस देश में जमींदारी प्रथा समाप्त हो चुकी है लेकिन इस समाज में व्याप्त अंधकार और सरकारी तंत्र में व्याप्त अव्यवस्था की छवि को समझ नहीं पाता है। यही कारण है कि इस भोले–भाले किसान को समाज के तथाकथित समाज सेवक और स्वार्थ की राजनीति करने वाले व्यक्ति उन्हें आसानी से गुमराह करते हैं। इसके साथ ही वे अपनी स्वार्थसिद्धि में उनका भरपूर उपयोग करते हैं। उनको आपस में लड़ाकर, खून–खराबा कराकर अपना स्वार्थ सिद्ध को न्यायोचित ठहराते हैं।

तहसीलदार का कहना है कि संथाल लोग गांव के नहीं बाहरी आदमी हैं। गांव के सीधे–सादे आदमी को तहसीलदार धूर्त्ततापूर्ण चालाकी से इन लोगों को

---

[11] मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु,.पृ.185

अपने माया–जाल में फंसाते हुए कहते हैं "जरा विचार कर देखो। यह तंत्रिमा का सरदार है... अच्छा, तुम्ही बताओ जगरू, तुम लोग कौन ततमा हो? भगहिया हो न? अच्छा कहो, तुम्हारे दादा ही पश्चिम से आए और तुम्हारी बेटी तिहुनिया तंत्रिमा के यहां ब्याही गई हैं भगहिया चाल–चलन भूल गए। अब तिरहुतिया और भगदिया एक हो गए हो! लेकिन संथालों में कमार है, मांझी है? वे लोग अपने को यहां के कमार और मांझी में कभी खपा सके? नहीं वे तो हमेशा हम लोगों को ही छोटा कहते हैं। गांव से बाहर रहते हैं.....कहो तो गाने किसी संथाल को बिदेशिया का गाना या एक कड़ी चैती! कभी नहीं गावेगा। इसका दारु हरगिज नहीं पीयेगा। जब पीयेगा तो 'पंचाय' ही समझो सोचो।"[12] इस प्रकार तहसीलदार साहब दरवाजे पर बैठे हुए बीहन लेने वालों से कहते हैं। उनके दरवाजे पर डेढ़ सौ से ज्यादा लोग हैं। उसमें कालीचरण, वासुदेव और बलदेव भी हैं। ये भोले–भाले गरीब किसान मजदूर (ग्रामीण) बेचारे जमींदारी की चतुराई को नहीं समझ पाते हैं। इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि गरीबी की मार ने उनकी समझ को समाप्त कर दी है। यही कारण है कि एक आदमी स्वीकारोक्ति भाव से कहता है "तहसीलदार साहब एकदम ठीक कह रहे हैं... नीं भाई जो भी हो तहसीलदार साहेब ही एक आदमी हैं जो कि गांव की भलाई–बुराई की बात समझते हैं?... ठीक कहते हैं, तहसीलदार साहेब। एकदम से 'फाटक खोल' हुकुम दे दिए हैं।"[13] इस प्रकार बेचारे गरीब किसान और मजदूर उन्हें दानवीर समझने लगते हैं। तभी तो तहसीलदार साहब अभिमान पूर्वक कहते हैं कि "कोई बात नहीं! इस बार तुम लोगों को संदेह क्यों हुआ? अधियादार लोग ही बीहन के वाजिब हकदार हैं। और जो लोग मेरे अधिया नहीं हैं, उन्हीं से पूछो कि किसी साल हमने लौटाया है किसी को? तब यह है कि पिछले साल जैसी ऊपज हुई थी सो तो देखा ही हुआ है। तिस पर पेडीलाभी कानून (पेडी लेवी कानून) का देना अभी बाकी है। बहुत कोशिश–पैरवी करके किसी तरह एक सौ मन कराया है।"[14] अपनी

---

12 मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु,.पृ.180

13 मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु,.पृ.188

14 मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु,.पृ.188

उपलब्धियों को शिरोधर्य कराते हुए तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद कहते हैं कि "हरगौरी बाबू की किरपा से तो पांच सौ मन लग गया था। इससे शायद दारोगा साहेब ने पूछा और उन्होंने बता दिया कि पांच हजार मन धान होता है। वह तो थाना कांग्रेसी के सिकरेटरी ने कितनी कोशिश करके इसको सौ मन बनाया है।"[15]

उस क्षेत्र के लगभग सभी लोग जानते हैं कि हरगौरी और सिंध जी ने क्या किया है। तहसीलदार भली–भांति जानता है कि उन लोगों को कैसे अलग किया जाय। समाज में व्याप्त जातीय भेदभाव की गहराई को जानते थे, जिसका उन्होंने शोषण रूपी अस्त्र के रूप में उपयोग किया। इसी के बदौलत "हरगौरी ने सिंध जी के नाम संथाल टोली की पचीस एकड़ जमीन बेनामी करवाई, जिसमें से दो एकड़ सिंध जी को मिलेगी....खेलावन ने भी पांच बीघा संथाल टोली की बंदोबस्ती ली है।"[16] इस प्रकार देखा जा सकता है कि किस तरह समाज के प्रभावशाली लोग अपने प्रभाव का उपयोग कर दूसरे के जमीन–जायदाद को हड़प लेते हैं। विस्थापित आदिवासियों की स्थिति तो बदतर है ही लेकिन मूलस्थान में वास करने वाले की भी अच्छी नहीं है। इन्ही कारणों सें राकेश कुमार सिंह के उपन्यास 'समर शेष है' में जैना मोड़ के लोग कहते हैं ''वे हमें जानवर समझते हैं, उससे भी बदतर। पशुवत व्यवहार करते है। छल–प्रपंच से हमारी जमीन हड़प ली, हमारे जंगल को बर्बाद कर दिया। हमारी औरतों की इज्जत की उनकी नजर में कोई कीमत नहीं।''[17]आदिवासी क्षेत्रों की सबसे विशेष बात यह है कि जो शोषण करने उनके क्षेत्रों में गया, वही कालान्तर में सादान (सादा से रहने वाला) कहलाया। गगन बिहारी और बेचू तिवारी वैसा ही सादान था जिसने हमेशा से आदिवासियों को डरा कर रखने का प्रयास किया। इसीलिए मास्टर संजीव मुण्डा बंधुओं को समझाते हैं कि ''बहादुर तो थे भगनीडीह के सिद्धू और कान्हू! चांद और भैरव। बहादूर थे भोक्ता सरदार नीलाम्बर और पीताम्बर जिन्होंने कर्नल डाल्टन जैसे गोरे लाट से लोहा लिया। तमाड़ का रूदु

---

15 मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु,.पृ.188.

16 मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु पृ.189

17 समर शेष है : विनोद कुमार सिंह, पृ0–208.

और कोंता थे बहादुर! तुम हो उनके जैसे.....?''[18] लेकिन वे भली–भांति जानते हैं कि ये आदिवासी उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकते हैं। इसी का परिणाम है कि आज देश के कई हिस्से में किसान आंदोलन चल रहा है। इन्हीं असहाय आदिवासी दलित और गरीब मजदूरों के शोषण के प्रतिकार स्वरूप ही पी.डब्ल्यू.जी. और एम.सी.सी. जैसे उग्रवादी संगठनों का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। देश में सैद्धांतिक रूप से भले ही जमीमंदारी प्रथा का अंत हुआ हो लेकिन अभी भी समाज में जमींदारी प्रथा देखी जा सकती है। जहां–जहां भूमि सुधार कानून को व्यवहारिक रूप दिया गया, वहां इस तरह की समस्या कम से कमतर हुई है। जैसे कि बंगाल में कम्युनिस्ट सरकार ने भूमि सुधार कानून को लागू कर अपना जनाधार तो मजबूत किया ही साथ ही साथ कुछ गरीबों का भला भी हुआ है। लेकिन बिहार सरकार ने भले ही भूमि सुधार कानून सर्वप्रथम लागू किया हो, व्यवहारिकता में वह नगण्य रहा है।

गरीब, मजदूर और आदिवासियों के शोषण में समाज के जमींदार और साहूकोर के साथ सरकारी तंत्रों में लिप्त व्यक्ति की कम साझेदारी नहीं हैं। सिद्धांतों के विपरीत एक रक्षक ही भक्षक की भूमिका निभाते हैं। आदिवासियों के साथ एक और गंभीर समस्या जाति व्यवस्था की है। मुख्यधारा के लोगों ने कभी भी आदिवासियों का हित नहीं चाहा है। सर्वत्र देखा जा सकता है कि आदिवासियों का हर जगह शोषण ही हुआ है। अंग्रेजी की तरह अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए कुछ लोगों को भले ही शिक्षा के लिए प्रेरित किया हो, लेकिन समग्रता में देखा जाय तो इसका प्रथम प्रयास नगण्य ही रहा है। हम सभी जानते हैं कि लेखक या साहित्यकार मानवीय भावनाओं के पुरोधा होते हैं यही कारण है कि रेणु जी समाज में व्याप्त विद्रूपता को भली–भांति समझते थे। इसकी जानकारी इन संथालों को नहीं थी, ऐसी बात नहीं है। वे भली–भांति इन समस्याओं से परिचित हैं। इसीलिए रेणु जी कहते हैं कि "संथालों को सब मालूम है। अभी बलदेव जी, बावनदास जी, और कालीचरन जी सब एक हो गए। संथाल लोग अच्छी तरह जानते हैं, कोई साथ

---

[18] पठार पर कोहरा: राकेश कुमार सिंह–पृ0 194.

देनेवाला नहीं। धरमपुर में देखा नहीं? ऐसा ही हुआ। इसीलिए बड़े–बूढ़े ठीक ही कह गए हैं – यहां के लोगों का विश्वास मत करना। जब जिससे जो फायदा हो ले लेना, मगर किसी के साथ मत होना।"[19]

आज भी महाजनी और जमींदारों का शोषण ग्रामीण क्षेत्रों में देखा जा सकता है, जहां शिक्षा का अभाव है और लोग अपने अधिकारों से परिचित नहीं है। 'शहर से कतराते फिरनेवाले वनवासी जन सदा साहू के लिए स्वागत के पात्र हैं। शहर से धबरानेवालों के लिए तुपकाडीह के बनियों से अपेक्षाकृत ज्यादा भला और ईमानदार साहू कहीं ज्यादा अपना भी तो है। ईमानदार कुछ कम भी हो तो क्या? परायों के हाथों लुटने से अच्छा है साहू के हाथों ही लूटें। सम्बन्ध तो बना रहता है और आढ़े गाढ़े समय में यही सम्बन्ध काम आता है जंगल में।''[20] जमींदार उसी का लाभ उठाकर गरीबों का शोषण करता है। आज भी शोषण का अंत नहीं हुआ है केवल उसका रूप बदला है। इसीलिए महाश्वेता देवी अपने उपन्यास 'अग्निगर्भा' की भूमिका में कहती हैं "भारत के नक्शे से कुछ–कुछ चिह्न पोंछकर मिटाये नहीं जा सकते। भूखे किसानों का शोषण बेरोक–टोक चल रहा है। जमींदारों ने बेनामी, देश की प्रायः सारी खेती–योग्य भूमि कुछ हजार परिवारों की मिल्कियत में कर ली है। दूसरे नाम से चक्रवृद्धि ब्याज से पीसना और बेगार लेना चल रहे हैं। ग्राम्य भारत का स्वरूप श्मशान की तरह है। सूखे में और गरमी में आदिवासी और अन्यान्य तथाकथित अवर्ण हिंदू जाति सूखी नदी का कॉलेजा खोदकर पानी तलाश करते हैं। भारत का फेन और आमानी (पानी, जिसमें रात को भात भिगोकर रखा जाता है) बिकते हैं। पलामू के आदिवासी लोगों को चीना घास के बीज के सिवा और कोई चीज खाने को प्रायः नहीं मिलती।"[21] अतः कहा जा सकता है कि भारतीय सामाजिक संरचना भले कितने ही बदल जाय लेकिन इस देश से शोषण और भ्रष्टाचारपूर्ण प्रवृति का उन्मूलन असंभव प्रतीत होता है।

---

19 मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु,.पृ.189.

20 पठार पर कोहराः राकेश कुमार सिंह–पृ0 18.

21 अग्निगर्भ – महाश्वेता देवी, पृ.09

इस प्रकार की प्रवृति से चिंतित समाज सेविका और महान लेखिका महाश्वेता देवी की दुःखद जिज्ञासा स्वाभाविक है। हम सभी जानते हैं कि आदिवासियों के विस्थापन के कई कारणों में से एक कारण जमींदारों द्वारा शोषण है। जमीन, जायदाद, खेत–खलिहान होने के बावजूद वे अपने जन्मभूमि से विस्थापित होने को विवश हैं। जैसाकि माधोपुरा की स्थिति को देखकर अंदाजा लगाया जा सकता है। "खेती की जमीन ऊँची जातियों के हाथों में है। माधोपुरा का पर्वतीय इलाका आदिवासियों का है और जिनके पास कृषि भूमि है वे भूखे और निरूपाय कैसे हो सकते हैं? जितनी परेशानियां हैं, सब खेती को लेकर है। समतल में जहां आदिवासियों की जमीनें हैं भी वहां कितनी ही जगहों पर वे उस जमीन पर पांव रखने की हिम्मत नहीं कर सकते।"[22] जमींदारों के रोब–दाब के सामने बेचारे, अशिक्षित, बेरोजगार आदिवासी क्या करे। यदि कहीं थाना पुलिस को शिकायत करने जाते हैं तो वे भी उन्हीं को परेशान करते हैं। इन्हीं कियाओं की प्रतिक्रिया स्वरूप आदिवासी क्षेत्रों में नक्सली संगठनों का वर्चस्व बढ़ता जा रहा है। हम सभी जानते हैं कि खूनी लड़ाई कोई समाधान नहीं है, लेकिन सरकार की अरूचि और शोषक तत्वों का बढ़ता प्रभाव ही नक्सल की बढ़ती लोकप्रियता का कारण है। सरकार और राजनीतिक इच्छा शक्ति से इन समस्याओं का समाधान आसानी से निकाला जा सकता है। इसके साथ ही आदिवासियों के विस्थापन को रोका जा सकता है। आदिवासियों की उस समय सरकारी तंत्र से आस्था उठ जाती है जब सरकारी कानून के कवच के बावजूद आदिवासियों को लूटा जाता है। जैसाकि "आदिवासियों की जमीन हस्तांतरण निषिद्ध है और गैर कानूनी।"[23] लेकिन फिर भी आदिवासियों की जमीनों को सरकारी सहयोग से अवैध तरीकों से खरीदा और बेचा जा रहा है। जिससे आदिवासियों का विस्थापन निरंतर जारी है। आदिवासियों का कहना है कि "ब्रिटिश राज की जन–विरोधी और भारत विरोधी नृशंस कार्रवाई से बदहाल हुई आदिवासियों को आजादी के बाद और सम्मानपूर्ण जीवन का रास्ता दिखाने के

---

[22] टेरोडैक्टिल – महाश्वेता देवी, पृ.43

[23] टेरोडैक्टिल – महाश्वेता देवी, पृ.43

बजाय हमें प्रशासन ने सब्ज–बाग ही ज्यादा दिखाए और उनके साथ दोयम दर्जे के नागरिकों जैसा व्यवहार किया जाता रहा। भोले–भाले आदिवासियों को सूदखोर महाजनों, भ्रष्ट अफसरों और ठेकेदारों के गठबंधन की साजिशों का आदिवासियों को बार–बार शिकार होना पड़ा है, यहां तक कि मुक्ति के लिए आवाज उठाने की सजा उन्हें गोलियों से दी गई है।"[24] इसका एक प्रमाण संथाल परगना का कुख्यात 'बांझी कांड' है। "सन 1985 के अप्रैल को हुए इस गोली कांड के पीछे सूदखोर महाजनों, भ्रष्ट अफसरों और पुलिस की घिनौनी साजिश थी। इस गोलीकांड में एक पूर्व सासंद सहित कुल 15 आदिवासी मारे गए। पुलिस की गोलियों से मारे गए पूर्व सांसद और आदिवासी नेता फादर अन्थॉनी मुर्मू सहित उन आदिवासियों का कसूर बस इतना था कि वे सूदखोर महाजनों और उन्हें संरक्षण देने वाले भ्रष्ट अफसरों के खिलाफ आवाज उठा रहे थे।... दस वर्ष बीत जाने के बाद भी बांझी और आसपास के इलाकों में सूदखोर महाजनों, भ्रष्ट अफसरों और पुलिस का आतंक राज खत्म नहीं हुआ।"[25] यह मुख्यधारा के लोगों का आदिवासी विरोधी प्रवृति ही है कि भारतीय संसद के सदस्य रह चुके एक आदिवासी सहित 15 लोगों की निर्मम हत्या के दोषी लोगों के खिलाफ अब तक कोई ठोस कदम नहीं उठाया जा सका। यह तथ्य इस बात की पुष्टि करता है कि हमारे लोकतांत्रिक समाज में आदिवासियों की स्थिति आज कितनी बुरी है?

इतिहास गवाह है कि वर्षों की मेहनत के बाद आदिवासियों ने जंगल को साफ करके कृषि योग्य जमीन बनाई। सदियों तक वे अपने इलाके में सहज एवं स्वतंत्र ढंग से खेती बारी करते रहे। कहीं किसी तरह का हस्तक्षेप नहीं रहा। इस अवधि में उन्होंने विभिन्न इलाकों में अपनी भूमि व्यवस्था स्थापित की जो सामुदायिक स्वामित्व जैसी थी। भूमि पर किसी एक व्यक्ति का आधिपत्य नहीं था। वन और भूमि दोनों के साथ यही स्थिति थी।

---

[24] झारखंड : जादुई जमीन का अंधेरा – उर्मिलेश, पृ.29

[25] झारखंड : जादुई जमीन का अंधेरा – उर्मिलेश पृ.30

अंग्रेजों के आने के कुछ पहले से ही इनके इलाकों में बाहरी और गैर–आदिवासियों, व्यापारियों, सेठ और साहूकारों का आना–जाना चालू हो गया था। आसपास के इलाकों और कभी दूर–दराज से आए इन बाहरी तत्वों ने चुनिंदा इलाकों में आदिवासियों की जमीन पर कब्जा करना शुरु किया। "राजा और जागीरदारों एवं अनेक नातेदारों की ओर से आदिवासियों की पारंपरिक भूमि व्यवस्था पर हमले किए जाते रहे। कई इलाकों में बाहर से आए भू–स्वामियों ने राजा और उसके संबंधियों से पट्टै लिखवाकर जमीनें ऐंठी। आदिवासी इलाके में शोषण, अत्याचार और भूमि हड़पने के बाहरी तत्वों के अभियान के खिलाफ असंख्य विद्रोह हुए। बिरसा मुण्डा का आंदोलन इनमें सबसे बड़ा विद्रोह था। संथाल परगना में संथाल–विद्रोहे भी इसी पृष्ठभूमि में हुए। वहां न केवल संथालों की जमीन छीनी गई, अपितु उन्हें सूदखोरी और महाजनी के काले कुचक्र में फंसकर निर्मम शोषण का शिकार बनाया गया। ये स्थानीय शोषक ब्रिटिश राज और उसके अफसरों के काफी नजदीक थे।"[26] इसलिए उन्होंने खुलकर आदिवासियों का शोषण किया। लेकिन जमीन छिनने से आदिवासियों का मनोबल गिरने लगा। इसके साथ ही जंगल–जमीन पर सदियों से अपना अधिकार समझने वाले समाज ने पहली बार अपने–आपको असहाय और ठगा हुआ महसूस करने लगा।

आदिवासी क्षेत्रों में महाजन और सूदखोरी की प्रकृति सर्वाधिक पायी जाती है। जैसाकि 'डूब' उपन्यास में महाजनों के बारे में कहा गया है कि वे मीठा विष होते हैं। जिस प्रकार साव सीधे–सादे ग्रामीणों को प्रेम से लूट रहा है। "साब ले जाएंगे उसे अपने साथ अपने घर। वहां फैलाएंगे उसका तमाम हिसाब! इतना घूस में दिया, इतना पिछला निकलता था तुझ पर, इतना ब्याज पिछली रकम पर, इतना खूसवाली रकम पर, इतने के तेरे गहने जो तूने हमें बेचे थे, हम वापस कर रहे हैं, ताकि बहू–बिटिया के काम आएं या कल को जब यह रकम खरच हो जाएगी तब हमारे पास फिर से गिरवी रखने या बेचने के के काम आए। रकम का क्या है, आज आई,

---

[26] झारखंड : जादुई जमीन का अंधेरा – उर्मिलेश पृ.46

कल खरच हो लेगी। है कि नहीं।"[27] इस प्रकार साव जैसे महाजनों ने लोगों को जिस चालाकी से लूटा है वह विचारणीय है। हम सभी जानते हैं कि आदिवासियों की आजीविका में सादगीपन होता है, इसका कारण मुख्यधारा से अलगाव है, आर्थिक तंगी है। लेकिन यह भी सच है कि इनकी जरूरतें भी कम होती है। इसीलिए उपन्यासकार कहता है '' वैसे वनवासियों की जरूरतें हैं भी कितनी? अनाज, किरासन तेल, नमक, सस्ते कपड़े, लोहे–लकड़ी के समान,धी–गुड़–शक्कर..... आदिवासियों द्वारा जंगल से इकटठी की गई चीजें–मसलन शहद,पतल–दोने, लकड़ी के लटठे–गटठर, चीटें ,भोज्य पक्षी, मछलियाँ और.....हँड़िया (चावल की मदिरा) । शुक्रवारी या मंगलवारी हाट में ही सब कुछ मिल जाता है।''[28] इस प्रकार कम आवश्यकता के बावजूद आदिवासी समाज शोषणकारियों से अपने को नहीं बचा पाए।

जहां एक ओर साव जैसा महाजन आदिवासियों के मध्य घुसकर उसका शोषण कर रहा है वहीं दूसरी ओर 'गगन घटा घहरानी' में महाजनी शोषण की भंयकर रूप को देखा जा सकता है। जैसाकि जागो को 70 रूपया और 'टू मन' गोंदली के कारण उसे बाघ के पिंजड़े में मरने को छोड़ दिया जाता है। सरकारी प्रशासन की पंगुता और सामाजिक अव्यवस्था का महत्वपूर्ण कारणों में से एक है। जब रक्षक ही भक्षक ही हो जाए तो दूसरों का क्या कहना ? ठीक ही कहा गया है कि साइयाँ भये कोतवाल तो हश्र काहे का?''यहाँ पलामू का एस. पी. के सर्वेंटस क्वाटर में दीपक तले अंधेरा रहता है। पुलिस अधीक्षक की नाक तले वर्दीधारी सिपाही नाबालिग लड़की के साथ बलात्कार करता है। यही वह जगह है जहाँ के जमींदार अपने बंधुवा मजदूरों में बगावत की गंध सूंधते ही बाघ के सामने फिंकवा देते हैं।''[29] इस प्रकार का दुशसाहस प्रशासनिक सहयोग के बिना असंभव है।

अतः कहा जा सकता है कि महाजनी शोषण ने जहां आदिवासियों का सामाजिक और आर्थिक शोषण किया। वहीं महाजनों और सूदखोरों ने शारीरिक

---

[27] डूब – वीरेन्द्र जैन, पृ.234

[28] पठार पर कोहराः राकेश कुमार सिंह–पृ0–12.

[29] जहाँ खिले हैं रक्त पलाश –राकेश कुमार सिंह,पृ.67,

शोषण भी किया। जिससे अपना बचाव करने हेतु उन्होंने अपने को दूर रखना ही उत्तम समझा।

(ख) विकास नीतियों के असंगत कार्यान्वयन और विस्थपनः

विकासवादी नीतियों की असंगत उपयोग के कारण ही लोग निरंतर विस्थापित हो रहे हैं। अर्थात यदि हम यह कहें कि इन थोथी विकास योजनाओं के कारण आदिवासियों को निरंतर विस्थापित होना पड़ रहा है, जैसाकि पलामू के चांदो गाँव के आदिवासियों के साथ हुआ है। "कभी घनघोर जंगल था यहाँ। आदिवासियों, ढोल, मांदल हाँके और शिकार का गाँव था चांदो। तीरों की तूती बोलती थी यहां। थोथी विकास योजनाओं ने आदिवासियों को प्रदर्शन की चीज बना डाला। जंगल कटते गए और आदिवासियों का पलायन होता रहा। अब चांदो एक गैर–आदिवासी बस्ती है। भुइयां–मुसहरों की आबादी के बीच एक घर है बाबू गोबिन्द सिंह का"[30] इसी तरह 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में राकेश कुमार सिंह को विदेशी पूँजी में आदिवासियों के विस्थापन की साजिश दिखता है, जैसाकि "देशी--विदेशी पूँजी के गठजोड़ द्वारा प्राकृतिक सम्पदा के अंधाधुन्ध दोहन ने आदिवासी समाज के पारम्परिक जीवनस्रोतों को सोख लिया है। आदिवासियों को लगातर जंगल से दूर धकेलने की साजिशें की हैं।"[31] इसके साथ ही इन नीतियों के असंगतापूर्ण उपयोग और स्थापना के साथ–साथ सरकारी तंत्रों की भ्रष्टाचारी प्रवृति के कारण विकास नीतियों का सही कार्यान्वयन नहीं हो पा रहा है। दफ्तर में दलालों की दलाली से सबसे ज्यादा आज जनता परेशान है। जैसाकि 'डूब' उपन्यास में 'साव' की दलाली दफ्तर में तूती बोलती है। कोई भी काम साव की सिफारिश के बिना असंभव है। जैसे बांध प्रभावित ग्रामीण मुआवजे की ताक में खाक छानने को मजबूर हैं। वहीं साव की दलाली से परेशान व्यक्ति यदि स्वयं कार्यालय जाते हैं तो बाबू लोग उसे भगा देते हैं। "साव की ओर से मायूस हो वे जा पहुंचते हैं बार–बार मुआवजा

---

30 जहां खिले हैं रक्त पलाशः राकेश कुमार सिंह, पृ0–128.

31 पठार पर कोहरा : राकेश कुमार सिंह, पृ0–138

कार्यालय। वहां शुरु–शुरु में तो बाबू लोग बड़े प्यार से पेश आते हैं, मगर जैसे ही यह भनक लगती है कि आनेवाला व्यक्ति बिना साव की चिट्ठी लिए चला आया है, तब हजार कारण बताते हैं, मुआवजा न दे पाने के। भूस्वामी की हर दलील की काठ है उनके पास। तुम वही आदमी हो जो बता रहे हो स्वयं हो, हम कैसे मान लें? कल को कोई और आकर कहने लगे कि मैं हूं फलाना सिंह, तब? तब हम कहां से लाकर देंगे उसे उसका हक। कहां से खोजेंगे तुम्हें?

तुम अपने गांव के सरपंच को लेकर आओ।

जी, सरपंच है ही नहीं, पंचायत ही नहीं हमारे गांव में।

तो हम क्या करें? पंचायत बनाओ! सरपंच चुनो.....साव को अपना सरपंच क्यों नहीं बनाते।"[32] इस प्रकार ग्रामीणों को अपना हक पाने के लिए एड़ी–चोटी एक करना पड़ता है। ऐसे में कई लोग तो दफ्तर का चक्कर लगाते–लगाते परलोक सिधार गए। अतः कह सकते हैं कि कुछ लोग तो तात्कालिक रूप से विस्थापित हुए ही और कुछ लोग तो इस धरती से भी विस्थापित हो गए।

सरकारी नीतियों का तो पदाधिकारीगण ऐसा धज्जियां उड़ाते हैं कि कुछ भी कहना कम होगा। ऐसे में एक–दो ईमानदार अधिकारी बेचारे की तरह संवेदना की भंवर में फंसकर रह जाते हैं। हरिशरण की व्यंग्यात्मक कथन से उस समय की स्थिति का अंदाजा लगाया जा सकता है। "सरकार गरीबी हटाए बिना मानेगी नहीं। कितनी ही नई योजनाएं सरकार बना रही हैं। वह सब करके मैं कैसे दिखाऊँ, मैन? परंतु आदिवासियों की मदद के लिए, उन्हें जिंदा रखने के लिए कोई मदद नहीं मिलती। जबकि कितनी ही अद्‌भुत योजनाएं, कितने करोड़ रूपये उन योजनाओं में दिखाए जाते हैं, पर उन योजनाओं को हम लागू कर सकें। इसके लिए सरकार सहायता नहीं देती।"[33] इस प्रकार खाता–बही में बड़े–बड़े दावे और वादे किए जाते हैं। लेकिन जमीनी धरातल पर कुछ होता नहीं दिखाई देता है। हरिशरण का कथन

---

[32] डूब – वीरेन्द्र जैन. पृ.235

[33] टेरोडैक्टिल – महाश्वेता देवी, पृ.45

सत्य प्रतीत होता है। "योजना के निर्धारित पैसे भले ही लौट जाएं! मगर.....माधोपुरा में तो ऐसा ही चलेगा।"[34] आज भी प्रायः बीमारु राज्यों में देखा जा सकता है। ऐसे में राज्य की जनता का कैसे विकास हो सकता है। इन परिस्थितियों में तो मुख्यधारा के लोगों के विकास में ही संदेह होता है और हासिए में रहने वाले आदिवासियों का तो भगवान ही मालिक होगा।

विकासवादी नीतियों की असंगत उपयोग के कारण ही लोग प्रकृतिवादी हो गए हैं। सूरज प्रताप के लेखन से ऐसा ही लगता है। उन्होंने लिखा था – "भारत में तरह–तरह के वन थे। पेड़ों और जंगलों से उत्पन्न होनेवाले पदार्थों का पारंपरिक उपयोग भी था। कोई और देश होता तो उन वनों को विकसित करके नये–नये तरीकों से उन पेड़ों को आदमी की सेवा और सहायता के काम में लगाया जाता। हमारे देश में वनों का ध्वंस करने की एक स्वाभाविक प्रवृति है। वनजीवी मनुष्य को वनों का कोई नया उपयोग नहीं सिखाया गया। पलामू से भारत को इतना लाह मिलता था, पलाश का लाह और पलाश वहां का ग्राम–देवता था। पलाश के जंगल साफा कर दिए गए। और आजकल यह तो बंजर जमीन में ऐलो की खेती हो रही है यह तो एक तमाशा है, मैन! आजकल टाट का नहीं, पोलीथीन का थैला चल रहा है। ऐलो के सूत से बनी रस्सी से कहीं अधिक मजबूत होती है, सिंथेटिक सूत की रस्सी।"[35] लेकिन यह भूल जाते हैं कि कौन पर्यावरण की स्थिरता हेतु ज्यादा लाभदायक है। सिंथेटिक भले ही मजबूत होती हो लेकिन उतना ही मजबूती से पर्यावरण को दूषित भी करती है। इसलिए किसी नीतियों को कार्यरूप देने से पूर्व वैज्ञानिकों को पर्यावरण की सुरक्षा जैसे विषय पर भी ध्यान देना चाहिए।

हम सभी जानते हैं कि भारत ग्रामीणों का देश है। यहां भारतीय जनसंख्या का अस्सी फीसदी जनता गांवों में निवास करती है। आज भी भारतीय आम जनता के लिए नदियों का महत्वपूर्ण स्थान है। वे अभी भी उसको पूज्य मानते हैं। इसी

---

[34] टेरोडैक्टिल – महाश्वेता देवी, पृ.45

[35] टेरोडैक्टिल – महाश्वेता देवी. पृ.45–46

आस्था के कारण नदियों को आदर भरी निगाहों से देखा जाता है। जैसाकि लड़ैई निवासी बरेदी ने लोगों को बताया कि "बेतवा मैया के राजघाट पर शहर के लोग बेतवा भाई को बांधने आए हैं। वे नदी को आजादी से बिचरने नहीं देंगे। दोनों तरफ माटी के टीले उठाकर अपनी मनमाफिक दिशा में नदी को बहा ले जाएंगे।"[36] इस प्रकार ये निवासी अपने विस्थापन से चिंतित नहीं है, बल्कि नदी की धारा को लेकर चिंतित हैं।

आदिवासी क्षेत्रों के विकास के बारे में सरकार का क्या दृष्टिकोण है, जंगल–पहाड़ से घिरे इलाके का राष्ट्रीय हितों के नाम पर कैसे, किसके लिए और किसी की कीमत पर दुरुपयोग किया जाता है, इसका ताजातरीन नमूना है– प्रस्तावित नेतरहाट फिल्ड फायरिंग रेंज। आदिवासी जनता द्वारा इसका विरोध हुआ और विरोध का यह सिलसिला अब भी जारी है। "रांची से 155 किलोमीटर की दूरी पर पश्चिम दिशा में सुरम्य पर्वतीय श्रृंखलाओं के बीच बसा है नेतरहाट। अंग्रेजों के जमाने में यह लोगों के ध्यान में आया और सुंदरतम हिल स्टेशन बन गया। अंग्रेज अफसर और अभिजात्य अफसर लोग यहां गर्मी के दिनों में आते–जाते रहे। उनकी सुख–सुविधा के लिए यहां कई डाक बंगले और पर्यटक स्थल बनाए गए। यहां एक विद्यालय भी खुला जो बाद के दिनों में काफी प्रसिद्ध हो गया। सेना अधिकारियों का ध्यान भी इस ओर आकर्षित हुआ। सन 1956 में यहां कुछ गांवों को खाली कराकर गर्मी के तीन–चार महीनों में सेना का अभ्यास कार्य चालू हो गया। यहां चांद माटी स्थल बना दिया गया। भारत–चीन लड़ाई के बाद सन् 1963 में इसे विस्तार प्रदान किया गया और युद्धाभ्यास के लिए सात गांवों को खाली कराया जाने लगा। और इस तरह के सुरम्य घाटी बारूद के धुएं और तोपों की गर्जन से कांपने लगी। अब सरकार यहां एक फील्ड फायरिंग बनाने की योजना लेकर आई है। अक्टूबर 1993 में यह योजना प्रकाश में आई और बिहार सरकार के गृह विभाग ने गजट अधिसूचना भी जारी कर दी। गुमला और पलामू जिले के 245 गांवों के दो लाख से अधिक

---

[36] पार – वीरेन्द्र जैन, पृ.35

आदिवासियों और दलित आबादी को विस्थापित कर इसका निर्माण होना है।"[37] लेकिन आदिवासियों के जुझारु आंदोलन के कारण यह योजना अभी अधर में लटकी हुई है।

आदिवासी कल्याण और विकास के सरकारी नजरिए की पोल प्रायः ऐसे स्थानों पर खुलकर सामने आ जाती है, जहां नए औद्योगिक उपक्रमों की स्थापना की गई है। इन उपक्रमों में काम करने के लिए बाहर से आए लोगों के लिए वहां 'जंगल में मंगल' सा परिवेश मुहैया कराया गया है। वहीं दूसरी ओर विस्थापित किए गए आदिवासी अगल–बगल की गंदी बस्तियों में नारकीय जीवन जीने को अभिशप्त हैं। हम यहां झारखंड में जारी भारत सरकार की कंपनी सी.सी.एल. के एक अति महत्वाकांक्षी परियोजना स्थल का उदाहरण देख सकते हैं। "कोयले की चमक से आभिजात्य समृद्धि की दुनिया को और दुधिया करने वाली उत्तर कर्णपुरा घाटी रोज–बरोज बद–शक्ल हो रही है। खदानों के फैलते जबड़ों में पेड़ों के झुण्ड समाते जा रहे हैं और इस तरह घने जंगलों के निशान तक मिट रहे हैं। विस्थापन की पीड़ा झूलते आदिवासियों के गांव गुमनामी के अंधेरे में खो रहे हैं।"[38] इसी प्रकार "बोकारो स्टील कारखाना की जल की आवश्यकता को पूरा करने के लिए तेनुघाट में एक विशालकाय जलाशय का निर्माण किया जा रहा था। उस बाँध से गिरीडीह जिले के गोमया, पेटरवार और गोला प्रखंड के 47 मौजे प्रभावित हुए थे और कम से कम पैंतीस हजार लोग विस्थापित हुए थे। प्रभावित होने वाले गाँव थे–तेनुघाट, कासीडीह, गोटेबेड़ा, करमाटाड़, मिर्जापुर, गितिलटोला, जोबड़ा, गागा आदि। ये तमाम गाँव जलमग्न हो गए। सरकार ने न तो उन विस्थापतों को बसने के लिए नई जगह दी और न नियोजन।"[39] सरकार द्वारा पुनर्वास के लिए जिस भूमि की व्यवस्था की गई वह भूमि दूसरों के कब्जे में थी। जिस कारण विस्थापितों को सरकार द्वारा व्यवस्थित भूमि नहीं मिल पाई जिसे 'समर शेष है' उपन्यास के माध्यम से समझा

---

[37] झारखंड : जादुई जमीन का अंधेरा – उर्मिलेश, पृ.30

[30] झारखंड : जादुई जमीन का अंधेरा – उर्मिलेश पृ.36.

[39] समर शेष है : विनोद कुमार, पृ0–273.

जा सकता है ''सरकार ने वैसे पाँच पुनर्वास क्षेत्र बनवाए–गाजा, मिर्जापुर, पातकी, हरदिया और चूटे पुनर्वास क्षेत्र। लेकिन उन पुनर्वास क्षेत्रों में पहले से अन्य लोगों का कब्जा था। हर जगह पर विस्थापितों की लड़ाई उन लोगों से हुई जो पहले से उन स्थानों पर बसे थे। जमीन का मुआवजा भी बहुत कम दिया गया था। एक नम्बर जमीन की कीमत 30 रू0 डिसमिल, दो नम्बर जमीन 20 रू0 डिसमिल और तीन नम्बर जमीन 15 रू0 डिसमिल।''[40] इसके साथ ही यहां देशी–विदेशी हुक्मरानों के संयुक्त सहयोग से जारी परियोजनाओं ने एक तरफ यहां के पारंपरिक निवासी आदिवासियों को बेहाल और विस्थापित किया है, वहीं नौकरशाही प्रबंधन ठेकेदारी सश्रम की कोख से एक तरह की 'नवधनाढ्य लंपट जमात' को जन्म दिया है। कोयलांचल में इस जमात को 'कोयला माफिया' कहकर पुकारा जाता है। योजनाओं में खुली लूट ने इस 'माफिया तंत्र' को आधार प्रदान किया है। और अब इसने बकायदा राजनीतिक हैसियत बना ली है।

इसके अलावा आदिवासी क्षेत्रों में "सरकार या निजी क्षेत्र की बड़ी परियोजनाओं के अलावा भी कई कारणों से आदिवासियों की जमीन का गैर आदिवासी के पक्ष में हस्तांतरण हुआ। भूमि हस्तांतरण के ऐसे नायाब तरीकों को अफसरशही सांठ–गांठ से कारगर बनाया गया। इस प्रकार के कई रूप हैं, जैसे – अधिकारियों, कर्मचारियों के नाम से बेनामी हस्तांतरण, गैर आदिवासी पुरुष द्वारा आदिवासी महिला को 'पत्नी' के रूप में दिखाकर उसके नाम पर लिया गया हस्तांतरण और छप्परबंदी के नाम पर लिया गया हस्तांतरण"[41] इसके साथ ही "भूमि अधिग्रहण" के सरकारी कानून में आदिवासियों के पारंपरिक अधिकारों और उनकी परिवेशगत वस्तु–स्थितियों की घोर उपेक्षा की गई है। सच तो यह है कि यह कानून आदिवासियों के हितों के विरुद्ध आधुनिक समाज के समृद्ध और विकासमान वर्गों के हितों के पोषण में सक्रिय दिखाई देता है। इसके माध्यम से आदिवासियों के प्राकृतिक संसाधनों का हस्तांतरण सर्वसत्तावादी शाक्तियों के पक्ष में होता गया है।

---

[40] समर शेष है : विनोद कुमार, पृ0:273–274.

[41] झारखंड : जादुई जमीन का अंधेरा – उर्मिलेश. पृ.57

'छोटानागपुर काश्तकारी अधिनियम' के प्रावधानों में ऐसे कई कानूनी छिद्र बरकरार रखे गए हैं, जिनका इस्तेमाल करके भूमि हड़पने का सिलसिला चलता रहे। "बिहार सरकार आवास बोर्ड' ने रांची में 500 एकड़ जमीन (जिसमें प्रथम श्रेणी का कृषि योग्य जमीन का हिस्सा ज्यादा था) का आवासीय कालोनी बनाने के लिए अधिग्रहण किया। यह जमीन आदिवासियों की थी, उनकी इच्छा के विरुद्ध जमीन का अधिग्रहण किया गया। बोर्ड ने इसमें से 165 एकड़ जमीन अशोक नगर आवासीय सहयोग समिति को दे दिया। जिसका गठन बिहार सरकार के तत्कालीन कुछ मंत्रियों, प्रभावशाली अफसरों, ठेकेदारों और सता के इर्द–गिर्द मंडराने वाले दलालों ने किया था। इस कालोनी में बिहार के कई आभिजात्य परिवारों के बंगले बने हुए हैं लेकिन यहां से उजाड़े गए आदिवासी उसी रांची शहर में लकड़ी और दातून बेचकर किसी तरह अपना पेट पाल रहे हैं।"[42] ऐसा भी नहीं है कि आदिवासी मेहनती नहीं होते? लेकिन फिर उनकी स्थिति सुधर नहीं रही है। इसीलिए उपन्यास 'समर शेष है' में का. राय कहते हैं कि ''मेरी अब तक की यह समझ है कि झारखण्डी समाज समतामुखी एवं श्रममुखी है। ये लोग खट कर खाते हैं, ईमानदारी की रोटी खाते हैं। तुमने भी महसूस किया होगा, खदानों, कल–कारखानों में काम करने वाले आदिवासी सबसे अधिक मेहनत का काम करते हैं और सबसे अधिक शोषित हैं।''[43] इन आदिवासियों के दयनीय स्थिति को देखने के बावजूद सरकार ने अभी तक कुछ नहीं किया है। डॉ0 ब्रह्मदेव शर्मा अपनी किताब 'आदिवासी स्वशासन' में सरकारी योजना के बारे में लिखते हैं ''उप–योजना के तहत आदिवासी इलाकों में सरकारी पैसे, कर्मचारी और कार्यक्रमों की बाढ़ आ गयी। इसके नतीजे भयावह हुए हैं। समुचित व्यवस्था के अभाव में शोषण, उत्पीड़न और समाज के संसाधनों पर नाजायज कब्जा आज बेलाग हो रहा है। आदिवासी अपने ही घर में पराया और विनाशकारी विकास का शिकार बन गया है। सच तो यह है कि आदिवासी उप–योजना बनाई तो आदिवासियों के चहुंमुखी विकास के लिये गई। मगर जाने–अनजाने उसका

---

[42] झारखंड : जादुई जमीन का अंधेरा -- उर्मिलेश. पृ.57

[43] समर शेष है : विनोद कुमार ,पृ0–297.

क्रियान्वयन आंशिक, नेमी और वह भी आधा–अधूरा, लापरवाही से ही नहीं हर तरह के दाँव–पेंच के साथ किया गया। इस तरह आदिवासी विकास के लिए बनाई गई उप–योजना की सशक्त व्यवस्था व्यवहार में आदिवासी इलाकों पर आंतरिक उपनिवेशवादी जकड़ को मजबूत करने का कारगर हथियार साबित हुई।''[44]

आदिवासियों की जमीन के हस्तांतरण के मामले में अनुसूचित जाति–जनजाति आयोग के उपध्यक्ष रहे बंदी उरांव की बहुचर्चित रिपोर्ट (बिहार सरकार) दर्शनीय है। वे सभी संस्थाओं और यहां तक कि अदालतों को भी एक स्तर पर दोषी ठहराते हैं। उनका कहना है कि "पूरी बिहार सरकार, उसकी मशीनरी और हुक्मरान आदिवासियों की जमीन की लूट में शामिल है। आदिवासी–जमीन के हस्तांतरण और आदिवासियों के भूमिहीन और बेकार बनने की प्रक्रिया में अदालतों की भी सहायक भूमिका रही है।"[45] अतः कहा जा सकता है कि विकास नीतियों के असंगत कार्यान्वयन या सोची समझी चाल से सबसे अधिक आदिवासी प्रभावित हुए हैं। जिससे उन्हें विस्थापन को मजबूर होना पड़ा है। आदिवासियों के लिए बाहिरागत गाजर घास की तरह ही है। पहले तो वे उनके हितैषी की तरह वर्ताव करते हैं लेकिन कालान्तर में वही हितैषी विदेशी हो जाते हैं और उनको हर तरह से प्रभावित करते हैं ,जैसाकि जंगल दस्ता का कहना है 'पहले पलामू में नहीं होती थी यह गाजर घास। विदेशी राशन आया था पलामू के अकाल पीड़ितों की जीवन रक्षा के लिए। विदेशी राशन के साथ ही आये हैं ये विनाशक विदेशी बीज। पलामू के स्थानीय वनस्पतियों को बड़ी तेजी से विस्थापित कर रही है यह घास।'[46] इसी प्रकार विकास के नाम पर आदिवासियों को प्रायः घरों से विस्थापित किया जाता रहा है।

परियोजनाओं से होनेवाले लोगों का विस्थापन एक बड़ी समस्या है। विस्थापन को लेकर प्रशासन और समाज के प्रबुद्ध कहे जाने वाले लोगों में अब भी गलत धारणाएं कायम हैं और जब तक इस धारणा में बदलाव नहीं होता, समस्या का सही

---

[44] आदिवासी स्वशासन : डॉ0 ब्रह्मदेव शर्मा, पृ0--12.

[45] झारखंड : जादुई जमीन का अंधेरा – उर्मिलेश .पृ.58

[46] जहाँ खिले हैं रक्त पलाश –राकेश कुमार सिंह,पृ.09,

समाधान भी नहीं खोजा जा सकता है। विस्थापितों को थोड़ा–बहुत मुआवजा देकर परियोजनाओं के प्रबंधक अपनी जिम्मेदारी और कर्त्तव्य से मुक्त हुआ महसूस करने लगते हैं। पहली बात तो यह है कि परियोजनाओं के नाम पर आज जितने लोगों को विस्थापित किया जाता है, बेहतर समझदारी विकसित करके उनकी संख्या काफी कम की जा सकती है। गैर जरूरी विस्थापन को सही तकनीकी ज्ञान और रणनीति से रोका जा सकता है। इसके लिए परियोजनाओं की प्रकृति, प्रासंगिकता और उनकी उपयोगिता का पहले ही वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन किया जाना चाहिए। आम जनता को कम से कम क्षति और ज्यादा से ज्यादा लाभ पहुंचाने की रणनीति विकसित करने का प्रयास किया जाना चाहिए।

हम सभी जानते हैं कि आदिवासियों का जंगलों से अटूट संबंध रहा है। जंगल इनकी जीवकोपार्जन का महत्वपूर्ण साधन है। लेकिन यदि आदिवासी इन जंगलों का उपयोग करते हैं तो आवश्यकतानुसार ही पेड़ को काटते हैं। ये आदिवासी किसी पेड़ को काटते वक्त हमेशा ध्यान रखते हैं कि पेड़ समूल नष्ट न हो जाए। इसलिए वे जड़ से किसी भी पेड़ का उन्मूलन नहीं करते हैं। इसके साथ ही भविष्य में बढ़ने के लिए तना छोड़ देते हैं। इस प्रकार आदिवासियों ने हमेशा से पारिस्थितिकी तंत्र का ध्यान रखा है। लेकिन कालान्तर में "जंगल का दोहन इतनी निर्ममता से किया जाता रहा है कि वनपति समझी जानेवाली जनजातियाँ अब सादानों की रैयत बनकर रह गयी हैं। पर्यावरण विनाश के शोर, परिस्थिति की असन्तुलन के स्यापे, वन्य प्राणियों एवं वनस्पतियों को संरक्षित करने के तमाशों मे उस चीख और पीड़ा को धोंट–धोंटकर दबाया जाता रहा है जो वनवासियों के जीवन में व्याप्त है।"[47] सरकार की अदूरदर्शितापूर्ण नीतियों के कारण आदिवासियों को जंगलों से भगाया जा रहा है, विस्थापित किया जा रहा है। इसके साथ ही भ्रष्ट अधिकारियों और जंगल माफिया मिलकर आदिवासियों को बदनाम करते हैं। सभी जानते हैं कि "जंगल माफिया लकड़ी को चुराते हैं और सारा दोष आसपास के गांवों

---

[47] पठार पर कोहरा : राकेश कुमार सिंह.पृ0–153.

में रहनेवाले आदिवासियों के सिर मढ़ा जाता है। फॉरेस्ट गार्ड और फॉरेस्टरों की डिमांड भेजी जाती और उनकी संख्या बढ़ा दी जाती। हरेक संवेदनशील जगह पर चेकपोस्ट खड़े कर दिए जाते।"[48] इसके साथ ही तरह–तरह से आदिवासियों को तंग किया जाता है। जिससे वे परेशान होकर अन्यत्र भाग जाएं।

आदिवासियों की भले मनसाहत ही उनकी सबसे बड़ी कमजोरी प्रतीत होती है। इसीलिए तो वे बिना लाग–लपेट के सीधे–सीधे कामरेड काली को अपनी भावनाओं से अवगत कराते हैं। "उनका दुख और क्रोध 'फ्रंट' पर है। कमनिस नाम से उन्हें आशा थी। 'कांग्रेस' नाम न थी। इसलिए उनका कहना है कि 'फ्रंट' अब जमींदारों के स्वार्थ की रक्षा कर कृषक आंदोलन में मदद दे रहा है। चाहने पर पीड़ित किसान या खेत मजूर या अधिया या बटाई के किसानों को पुलिस का पहरा नहीं मिलता, उनके विरोधी जमींदारों को मिलता है।"[49] अतः यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं होगी कि रक्षक ही भक्षक की भूमिका अदा कर रहा है। जिसको प्रगति का मार्ग प्रशस्त रखने का अधिकार दिया गया है उसी ने उसके साथ दगा किया तथा सरकारी तंत्रों का दुरुपयोग किया।

इन्हीं कारणों से सरकार की विकास नीतियों को लेकर आदिवासियों में सदा से ही संदेह रहा है। उनको हमेशा से विकास के नाम पर धोखा दिया गया है। सरकार की विकास नीति हमेशा ही उनकी विस्थापन और शोषण का हथियार बना है। जैसाकि महाश्वेता देवी के उपन्यास को पढ़ने से प्रतीत होता है। "आदिवासी कल्याण की मद में प्राप्त रूपयों से इन राजपथों, सड़कों का निर्माण हुआ है, ताकि, मालिक, महाजन, दलाल और ऐय्याश लोग आदिवासियों द्वारा बनायी शराब और आदिवासी युवतियों के इच्छुक लफंगे अहंकारी युवक सीधे आदिवासी बस्तियों तक पहुंच सके।"[50] आदिवासियों के लिए हमेशा से विकास नीति इन्हीं कारणों से संदेह का विषय रहा है। आज भी इस प्रकार की नीति आदिवासियों को विस्थापित कर

---

48 गगन घटा घहरानी – मनमोहन पाठक, पृ.38

49 अग्निगर्भ – महाश्वेता देवी, पृ.56

50 टेरोडैक्टिल – महाश्वेता देवी, पृ.23

रही है। उदाहरण के तौर पर हम पाते हैं कि विद्युत–उत्पादन हेतु बांध या कारखाने लगाये जाने से सबसे अधिक आदिवासी और वहां के मूल निवासियों को ही इसका खामियाजा भुगतना पड़ता है। क्योंकि सरकार उनके लिए कोई उचित व्यवस्था नहीं करती है और यदि करती भी है तो यह लाभ उन गरीब आदिवासियों तक नहीं पहुंच पाती है। लेकिन यह सर्वविदित है कि समाज और देश के विकास हेतु इन चीजों (बिजली, पानी, सड़क) सख्त आवश्यकता होती है। लेकिन इसके साथ ही विस्थापितों के लिए उचित व्यवस्था और उन्हें विश्वास में लेने की आवश्यकता है।

(ग) आजीविका की खोज में पलायन :

गरीबी और बेरोजगारी आज देश की सबसे बड़ी समस्या बनकर उभरी है। रोजगार की तलाश में लोगों ने विश्व का कोना–कोना छान मारा है। एक ओर जहां पढ़े लिखे बेरोजगार युवा पीढ़ियों की संख्या निरंतर बढ़ती जा रही है। वहीं अशिक्षित बेरोजगार मजदूरों की संख्या भी कम नहीं है। इस प्रकार की समस्या से समाज के सभी वर्ग पीड़ित हैं। मुख्यधारा के समाज से अलग रहने वाला आदिवसी समाज भी इन समस्याओं से बच नहीं पाया है। यही कारण है कि आज आदिवासी समाज की नई पीढ़ियों का आजीविका की खोज में पलायन जारी है। कुछ लोगों को मालिकों द्वारा अपना काम कराने हेतु अन्यत्र से जाया गया। जैसे चाय बागान के मालिकों ने बागानों में काम कराने हेतु आदिवासी मजदूरों को ले गये, जो कालांतर में वे लोग वहीं बस गये। इसीलिए महाश्वेता देवी लिखती हैं कि "यहां काम करने वाले मजदूर प्रमुखतः बागान मालिकों के द्वारा लाए गए थे। वंश–परंपरा से रहते हुए वे स्थानीय निवासी हो गए थे।.....इन चाय–बागानों के मालिकों के कब्जे में जो अतिरिक्त जमीन थी, उसे उन्होंने अपने आश्रित श्रमिकों में बांट दिया।"[51] इस प्रकार ये श्रमिक कालांतर में वहीं के निवासी होकर रह गए। लेकिन उन्हें कभी सुख और शांति नहीं मिली, क्योंकि उस समय (प्रारंभिक दौर में) उन श्रमिकों को मालिकों के गुण्डों की अमानवीयतापूर्ण शोषण से वे त्रस्त थे। आज उन लोगों को वहां के मूल निवासियों

---

[51] अग्निगर्भ – महाश्वेता देवी, पृ.8

से जो बेरोजगारी और अशिक्षा से पीड़ित हैं उनसे लड़ना पड़ रहा है। यही कारण है कि आज भी असम में संथालों और बोडो की आपसी झड़प होती रहती है। इसी तरह अन्य राज्यों में इस प्रकार की झड़पें आए दिन समाचार पत्रों में छपती रहती हैं।

दिनों दिन बढ़ती भूखमरी और गरीबी के कारण हो रहे विस्थापन को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि "भारत में अकाल भी कुछ लोगों के हाथ में खरीद फरोख्त की वस्तु बन गयी है। कालाहांड़ी या माधोपुरा या जिस किसी भी दुर्गम पर्वतीय अथवा जंगली इलाके के आदिवासी बेल्ट में हमेशा से ही मनाव रचित दुर्भिक्ष जड़ जमाए रहता है।"[52] गरीबी और भुखमरी की व्यापकता को देखकर नजरअंदाज करना भारतीयों की आदत सी बन गई है। यही कारण है कि सिंचाई की व्यापक संभावना के बावजूद इसकी ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता है। इसका व्यापक रूप आज भी भारतीय राजनीति में देखा जा सकता है। आज राजनीतिज्ञ अपने चुनाव क्षेत्रों के विकास की ओर ध्यान नहीं देकर अपनी प्रतिद्वंदियों की खामियां तलाशने में सारा समय लगा देते हैं। यदि सालों भर अपने विकासवादी कार्यों पर ध्यान दें, तो किसी भी विधायक या सांसद को अपने प्रतिद्वंदियों की कमजोरी खोजने की जरूरत नहीं पड़ेगी। आज के नेताओं की कार्यविहीन सोच के कारण ही विभिन्न राजनीतिक दलों के कार्यकर्ताओं में मतभेद से ज्यादा मनभेद पाया जाता है। जिसके परिणामस्वरूप आपसी झड़प तक बात बढ़ जाती है।

आदिवासिदयों की गरीबी का आलम यह है कि वह अपने बच्चों तक को बेचने को तैयार हो जाते हैं। ठीक ही कहा गया है कि सबसे बड़ा और खतरनाक क्षुधाग्नि होती है। यही कारण है "शंकर और रिखिया अपनी संतानों को बेचकर विभ्रमित हो रहे थे। पहले दिन जब उन्हें मक्के का सत्तू और गुड़ का शरबत मिला तो हाथ में कटोरी लिए वे फूट–फूट कर रो पड़े थे। सरकार अगर राहत कुछ दिन पहले ले आती तो मैंने मंगनी को क्यों बेचा होता। इन आदिवासियों के मां–बाप ने

---

[52] टेरोडैक्टिल – महाश्वेता देवी, पृ.44

न तो इनकी कोई कैरियर प्लानिंग की और न ही फैमिली प्लानिंग। ये जानते हैं कि पथरीली मिट्टी को कुदाल से काटकर उसमें कोदो बोने और संभव हो तो बकरी चराने से ज्यादा उज्जवल कोई कैरियर उनका नहीं होगा।"[53] इस प्रकार गरीबी आदिवासियों की महत्वपूर्ण समस्या है।

अतः आदिवासियों का गरीबी से पलायन तो हो ही रहा है। इसके साथ ही विभिन्न कारणों से होने वाले विस्थापन के कारण आदिवासियों का अस्तित्व खतरे में है। जैसाकि लखना दुसाध नंदू घटवार को समझाता है "सो ऐसा कि पलामू के राजपूत–बाभन सब आदिवासियों को छूआ जात अछूत बूझते हैं। न मान देते हैं न इज्जत.....। तो जिसने आदिवासियों को इज्जत दिया, मान दिया, महाजन का कर्जा भरने को रूपया दिया, उसी को तो हित–मीत मानेंगे लोग। बहुत नीमक मानते हैं आदिवासी। जंगल के बाहर वाले मरते हैं पेट के पीछे.....जंगली आदिवासी जान देते हैं इज्जत और मान के पीछे। जो इन्हें नेह छोह देता है आंख मूंद कर उसके पीछे चल देते हैं। बस, बन जाता है जगरनाथ से जौन लकड़ा.....! बिजुलिया मरांडी से विलियम.....।"[54]इससे स्पष्ट है कि आदिवासी समुदाय को अपने इज्जत और मान सबसे ज्यादा प्यारा होता है। इसीलिए इनका झुकाव ईसाई धर्म की ओर अधिक है। यह भी सत्य है कि आदमी की सबसे बड़ी और महत्वपूर्ण समस्या गरीबी की है। इसमें किसी का वश नहीं चलता है न धर्म का जाति का। वर्तमान समस्या खाने की है। सरकारी गोदाम में अनाज सड़ रहा है। लेकिन गरीबों को यह अन्न देना मुनासिब नहीं समझते हैं। यह सरकार की अपंगता कहें या सोची समझी साजिश। लेकिन वास्तविकता यह है कि लोग भूख से मर रहे हैं। इसमें पूरन कहता है कि "हरित क्रांति वाले मध्य प्रदेश का एक अणु यह अत्यंत पिछड़ा हुआ आदिवासी इलाका चिर–काल से ग्रस्त है, यह बात कोई बोलने नहीं देगा।.....फूड कारपोरेशन के पास गोदाम पर्याप्त नहीं हैं, इसलिए अनाज की बोरिया सड़ रही हैं, मगर वह अनाज पिरथा या कालाहांडी या कोरापुट कहीं भी नहीं पहुंचेगा, नहीं पहुंचाया

---

53 टेरोडैक्टिल – महाश्वेता देवी, पृ.44

54 जहां खिले रक्त पलाश–राकेश कुमार सिंह, पृ0–74.

जाएगा। आज, अफ्रीका, श्रीलंका, भेजा जाएगा, इसका वायदा किया जाएगा सार्क सम्मेलन में खाद्य पदार्थों के सम्मेलन में। जब तुम्हारी अनाज की पैदावार इतनी अधिक है तो तुम बांटो, सभी को दो।"[55] जब सब चीज उपलब्ध है तो फिर क्यों कालाहांडी के लोग भूखे मर रहे हैं? कहीं आंध्र प्रदेश के किसान आत्महत्या को विवश हैं। झारखंड के पलामू जिला के लोग भूखे मर रहे हैं। लेकिन सरकार के लोगों में लगता है मानवीयता नाम की कोई चीज जानता ही नहीं है। आज आदिवासी समाज जंगलों का भी दोहन नहीं कर सकता है जो उनकी जीवन का महत्वपूर्ण अंग रहा है। जैसाकि पूरन के वक्तव्य से सरकार की ज्यादती का अंदाजा लगाया जा सकता है। "उनसे हाथ धोकर कहते हो कि वे जंगल मंत्रालय के अधीन हैं? क्यों वन मंत्रालय उन्हें बंधुवा मजदूर बनाकर रखता है, फालतू मानकर उन्हें खटाता है और कभी कुछ भी नहीं देता?"[56] लेकिन वास्तविकता यह है कि कुछ देने की बात तो दूर इन लोगों के पास सरकारी दफ्तरों में अच्छे से व्यवहार भी नहीं किया जाता है। यदि कोई अच्छा और ईमानदार ऑफिसर आ भी जाता है तो दफ्तर के आसपास घूमने वाले दलाल उन्हें गुमराह करते हैं। कभी उनकी पिछड़ापन और जातिगत नीचापन की बात करके उनके सारे सुविधाओं को गबन करने का प्रयास करते हैं। शिक्षा से दूर रहने के कारण अभी भी उनकी भागीदारी कम ही है। यदि शहरी आदिवासी इन पद पर आते भी हैं तो वे इन गरीब आदिवासियों की समस्याओं का निवारण करना तो दूर उनको देखना भी पसंद नहीं करते हैं। क्योंकि उनका उन आदिवासियों के साथ कभी संबंध ही नहीं रहा है। ऐसे अधिकारी अपने ही लोगों को हेय भरी नजरों से देखते हैं। उनके विकास के बारे में क्या सोचेंगे? अब सवाल उठता है कि यदि आदिवासी ऑफिसर ही आदिवासियों की समस्या का समाधान नहीं करना चाहेंगे तो अन्य के द्वारा कैसे संभव है। आदिवासियों के विस्थापन को कैसे रोका जा सकता है। अन्यत्र तो हरगौरी जैसे लोगों की भीड़ लगी है। जैसाकि "हरगौरी सिंध जी के नाम संथाल टोली की पचीस एकड़ जमीन बेनामी करववाई हैं,

---

[55] टेरोडैक्टिल – महाश्वेता देवी. पृ.96

[56] टेरोडैक्टिल – महाश्वेता देवी. पृ.96

जिसमें से दो एकड़ सिंध जी को मिलेगी.....खेलावन ने भी पांच बीघा संथाल टोली की बंदोबस्ती ली है।"[57] इस प्रकार की मनोवृति वाले लोग सर्वत्र देखे जा सकते हैं। आज भी उनकी उपस्थिति आसानी से देखा जा सकता है। ऐसे ही लोग समाज में विद्वेष फैलाते हैं और मानव–मानव के मध्य लड़ाई कराते हैं। ऐसे लोगों का एकमात्र उद्देश्य अपना स्वार्थसिद्धि और अधिक से अधिक लाभ उठाना है। किसी तरह वहां पर अपना जीवन–यापन करने वाले लोगों को विस्थापन के लिए विवश करना है। अंततः सीधे–सादे लोग इन लोगों की कुटिल चाल को समझ नहीं पाते हैं और वहां से पलायन कर जाते हैं या तो फिर कुछ लोग इनके खिलाफ विद्रोह कर बैठते हैं।

महाश्वेता देवी गरीब मजदूरों और आदिवासियों की समस्याओं को लेकर काफी चिंतित लगती हैं। इसीलिए तो वे कहती हैं। उत्तर बंगाल के आदिवासियों को जिन्हें केवल चुनाव केंद्रों लिए आंकड़े जुटाने के खातिर गिना जाता है। उन्हें जीवन की न्यूनतम सुविधाएं भी नहीं मिलती हैं। उनको चाय बागानों के मालिकों के भरोसे छोड़ देते हैं। जैसाकि "चाय बागानों के मालिक बगीचों के कुलियों के लिए 1987 में मंजूर करते हैं प्रतिव्यक्ति, प्रतिदिन 83 पैसे की मंजूरी.....बगान मालिकों की इस प्रकार की असहनीय उद्दंडता दिखाते हैं, क्योंकि कोई भी सरकार मालिकों को डिस्टर्ब नहीं करती, चाय बागानों के मालिक भले ही करोड़पति हो, ये सब कुली–मजदूर उनके खर्चे के खाते में क्यों दर्ज होते हैं? और क्यों जब आदिवासियों द्वारा परिचालित एकमात्र चाय बागान कोऑपरेटिव को बेनामी और जमीन–मालिक धीरे–धीरे निगलते जाते हैं, तब चतुर प्रशासन एक दर्शक की निरापद और लाभकारी भूमिका ग्रहण कर लेता है।"[58] इस प्रकार सरकार और उनके पीठ्ठू की चतुराई कहें या धूर्तता, लेकिन आदिवासियों का शोषण जोरों से हो रहा है।

---

[57] मैला आंचल–फणीश्वरनाथ रेणु, पृ.189

[58] टेरोडैक्टिल – महाश्वेता देवी, पृ.97

आदिवासियों की वैसी भी स्थिति खराब रही है, ऐसे में विस्थापित आदिवासियों की क्या स्थिति हो सकती है इसका अंदाजा लगाया जा सकता है। यह आदिवासियों का दुर्भाग्य ही है कि "रांची और पलामू के नागेसिया आदिवासियों के नाम बिहार राज्य की आदिवासी सूची में एक मर्दु मशुमारी के बाद दूसरी में लगातार दर्ज नहीं किए जाते और आसाम डुआर्स तथा समतल में दूसरे राज्यों से प्रायः डेढ़ सौ वर्ष पहले आये संथाल–ओरांव मुण्डा तथा दूसरों को कहा जाता है कि वे आदिवासी नहीं हैं। एक जाति है!"[59] जिससे उस राज्य में इन आदिवासियों को कोई लाभ नहीं मिल पाता है।

समाज के कमजोर और असहाय व्यक्ति पर सभी हावी पड़ते हैं। उसमें यदि नारी हो तो उसका शोषण और आसान हो जाता है। इसमें भी यदि आदिवासी और दलितों में से हो तो स्थिति और भी दयनीय हो जाता है। यही कारण है कि जोसेफ जैसा आदमी अपनी पत्नी को बेचने में थोड़ा भी संकोच नहीं करते हैं। क्योंकि समाज में इस प्रकार के लोगों की कमी नहीं है। बंजारी के भोलेपन का लाभ उठाकर उसने 'ट्रवलर्स होम' के मालिक कपूर को बेच दिया। इसीलिए बंजारी सोचती है "यदि औरत को भी मनुष्य समझा जाता तो मेरे साथ यह सब नहीं होता। जोसेफ मेरे साथ दगा क्यों करता? मेरा पति... क्या कभी किसी आदमी ने दुनिया में अपनी औरत के साथ ऐसा किया होगा। उसके साथ जिसे वह ब्याह करके लाता है, ब्याह के समय ईशू के सामने वफादार होने की कसम खाता है, उसे अपना आधा अंग मानने का ढोंग रचता है।"[60] इस प्रकार की कलाबाजी पुरुष प्रधान समाज में आए दिन समाचार पत्रों में देखा जा सकता है। यह केवल आदिवासी समाज के गददारों की ही करामाती नहीं है। इस प्रकार की क्रियाएं अन्य समाजों में भी देखी जा सकती हैं, जैसाकि बूढ़े अरबी शेख गरीबों को पैसा का लालच दिखाकर उनकी अव्यस्क बच्चों से शादी करके अरब ले जाते हैं। वे उनको यहां से शादी करके ले

---

[59] टेरोडैक्टिल – महाश्वेता देवी, पृ.97

[60] सूरज किरन की छांव -- राजेंद्र अवस्थी, पृ.173

जाते हैं, लेकिन वहां पर रखैल बनाकर रखा जाता है। इस प्रकार की प्रक्रियाएं अप्रत्यक्षतः आजीविका के कारण ही हैं।

हम सभी जानते हैं कि आदिवासियों की आजीविका का मुख्य आधार जंगल ही रहा है। आज जंगल के खत्म होने के साथ ही उनकी आजीविका के साधन भी समाप्त प्रायः हो चुके हैं। इसलिए इन आदिवासियों को आज "जीविकोपार्जन के लिए काम की तलाश में जंगल से बाहर जाना पड़ता है। बड़ी संख्या में संथाल परगना की महिलाओं एवं पुरुषों का पलायन पड़ोसी राज्य पश्चिम बंगाल में धान की खेती के लिए होता है। धान की खेती के समय यहां से बड़ी संख्या में मजदूर जाते हैं। खेती के काम में एक किलो चावल के अलावा 25 से 30 रूपये नगद मजदूरी मिलती है।"[61] इस प्रकार पाते हैं कि ये गरीब आदिवासी अपने पेट की आग बुझाने के लिए अपना घर–बार छोड़कर परदेश को जाते हैं। कई लोग तो स्थायीतौर पर बस गए हैं। ऐसा नहीं है कि इस तरह के विस्थापन और गरीबी को समाप्त नहीं किया जा सकता है। लेकिन सरकार की इच्छा–शक्ति के अभाव के कारण यह संभव नहीं हो पा रहा है।

झारखंड के छोटानागपुर एवं संथाल परगना की जनजातीय क्षेत्रों के लोगों की मुख्य समस्या गरीबी और अशिक्षा है। अच्छी शिक्षा और बेहतर जिंदगी पाने की ललक लोगों को धर्म से भी पलायन को विवश करती रही है। इस सच्चाई से इनकार नहीं किया जा सकता है कि ईसाई धर्म का प्रचार और प्रसार उन्हीं क्षेत्रों में अधिक हुआ है जहाँ गरीबी और भूखमरी है। जैसाकि लखना दुसाध, नंदू घटवार को समझाता है "पेट नंदू.....पेट'। समझाता है लखना दुसाध" पेट के कारण ही सरीफ औरत रंडी बन जाती है और बिजुलिया मरांडी.....विलियम मरांडी।"[62]वहीं दूसरी ओर बेरोजगारी की समस्या उन्हें आजीविका की खोज में पलायन को विवश करती है। गरीबी और भूखमरी की मार पुरुषों को तपती गरमी में रिक्शा चलाने और फैक्टरी के

---

[61] युद्धरत आम आदमी – जनवरी–मार्च, 2003, पृ.35

[62] जहां खिले रक्त पलाश–राकेश कुमार सिंह, पृ0–74.

बंद कमरों में कार्य करने को मजबूर करती है। वहीं महिलाओं को कुछ भिन्न प्रकार की समस्याओं से संघर्ष करते देखा जा सकता है। "दिल्ली और मुंबई जैसे महानगरों में कितनी ही लड़कियां दाई का काम करने एजेंटों के माध्यम से जाती हैं।"[63] एजेंटों के द्वारा इन लड़कियों का सर्वप्रथम शारीरिक और मानसिक शोषण होता है। तत्पश्चात् वे ऐसी क्रूर और शोषक समाज की कड़ी में जकड़ देते हैं कि वे बेचारे जिंदगी भर उसी मकड़जाल में उलझे रह जाते हैं। इनकी स्थिति इतनी बदतर हो जाती है कि कभी–कभी तो अपनी जन्मभूमि के दर्शन तक का अवसर भी नहीं मिल पाता है। यदि देखा जाय तो पाते हैं कि झारखंड की जनजातीय महिलाओं का पलायन देश के दूसरे राज्यों तक ही सीमित नहीं है बल्कि प्रतिवर्ष इस क्षेत्र से बड़ी संख्या में महिलाओं को रोजगार दिलाने के नाम पर विदेशों में भी भेजा जाता है। उन्हें मालिकों के घर में देहतोड. काम तो करना पड़ता ही है। कभी–कभी तो उन्हें हवस का शिकार भी होना पड़ता है।

अतः कहा जा सकता है कि आजीविका की खोज में होने वाले पलायन को रोका जा सकता है, यदि सरकार और जनता की सुसंगतता पूर्ण कार्य करने की इच्छा शक्ति हो। हम सभी जानते हैं कि सरकार द्वारा सिंचाई की उचित व्यवस्था नहीं रहने के कारण फसलों का उत्पादन अच्छा नहीं होता है। भारतीय किसानों की खेती मानसूनी वर्षा पर निर्भर करती है। मानसून के आने पर यदि थोड़ा भी आगे–पीछे होता है तो फिर भारतीय किसानों को अकाल जैसी समस्याओं का सामना करना पड़ता है। जैसाकि उड़ीसा के कालाहांडी में लोग भूख से मरे और कुछ लागों ने अपने बच्चों को शहर में बेच दिया, जिससे वह अपने परिवार का पालन–पोषण कर सके। एक ओर प्राकृतिक आपदा से ये लोग परेशान है, वहीं सरकार की अविवेकपूर्ण नीति से इनकी स्थिति और बदतर हो गयी है। यही कारण है आंध्रप्रदेश के किसान सूखा और सरकारी नीतियों से परेशान होकर आत्महत्या तक करने लगे हैं।

---

[63] झारखंड की महिलाओं की पीड़ा – बी. मुर्मू : युद्धरत आम आदमी, जनवरी–मार्च 2003, पृ.35

(घ) विस्थापन और जनजातीय समाज में परिवर्तन :

परिवर्तन एक प्रक्रिया है, जो समय के समानांतर चलती रही है। इस परिवर्तन से कोई बच नहीं पाया है। कोई कितना भी पाखंडी और परंपरावादी क्यों न हो, उसमें भी स्थूलता में न सही लेकिन सूक्ष्मता में परिवर्तन देखा जा सकता है। लेकिन स्वीकार्यता और अस्वीकार्यता मानव निर्मित प्रवृत्ति है। इसीलिए बंगला साहित्य की महान लेखिका, और बुद्धिजीवी महाश्वेता देवी का विचार है कि आदिवासी समाज से निकले आदमी विकसित और संपन्न होने के बावजूद क्या दूसरे समाज के लोग उसे समान भाव से देखते हैं? मेरे विचार से नहीं, क्योंकि भारतीय समाज व्यवस्था धार्मिक और जातीय कट्टरता से जकड़ा हुआ है। इस देश को इस कट्टरता से उबरने में अभी काफी समय लगेगा। हम लोग आशावादी हैं इसलिए कामना कर सकते हैं। इसे कट्टरता कहें या अपरिवर्तनशीलता इस पर विचार करते हुए महाश्वेता देवी कहती हैं कि "आदिवासी जब मामूली–सी शिक्षा या जरा–सी निरापदता पाकर अपने वर्ग से अलग हो जाता है तो उसकी उन्नति होती है या अवनति? क्या उसे मध्यवित्त या निम्न मध्यवित्त के लोग स्वीकृति देते हैं? पक्का मकान, मोटर साइकिल, नौकरी--जमीन सब कुछ अगर आदिवासियों के पास हो जाय, तो क्या वह संपन्न मध्यवित्त या ग्रामीण कुल का हो जाता है? जी नहीं, लुब्बे लुबाब यह है कि वह अपने आदिवासी समाज का तो नहीं ही रह पाता, उधर बाहरी समाज में उसका जो वर्ग है, उसमें भी उसे स्वीकृति नहीं मिलती।"[64]यही कारण है कि आपद--विपद में वह अपने उसी गरीब आदिवासी समाज में जाकर मिलता है। इसका अंदाजा सरपंच के वक्तव्य से लगाया जा सकता है। "सरपंच ने क्यों पहले 'आदिवासी लोग' कहकर फिर 'हम लोग' कहा? समस्या के बहुत से स्तर हैं। एक निरापद दूरी से चटपट राय देना उचित नहीं है।"[65] अतः यह सहजता से महसूस किया जा सकता है कि सरपंच कितनी दुविधा या असमंजस में है। जैसा कि उनके वक्तव्य से स्पष्ट होती है। "इसी

---

[64] टेरोडैक्टिल – महाश्वेता देवी, पृ.32

[65] टेरोडैक्टिल – महाश्वेता देवी, पृ.32

तरह आदिवासी.. हम लोग.....खबर देते हैं।"[66] यहां शुरुआत में अपने को अलग रखकर संबोधन किया है। लेकिन बाद उन्हें 'हम लोग' कहकर उस एलियेनेशन से बचने का प्रयास किया है।

विस्थापन ने आदिवासी समाज को विभिन्न आयामों से प्रभावित किया है। जैसाकि "औरतों के बारे में भी अब वैसा ही कुछ हो रहा है। नहीं तो आदिवासी औरतों को कोई दिक्कू (गैर आदिवासी) छू तो दे भला? पर अब तो 'दिक्कूओं' की आदतें ही सीख रहे हैं, आदिवासी भी। मूल्य बदल रहे हैं उनके भी। ढेर कारखाने अब 'बज बजा' रहे हैं इर्द–गिर्द। जंगल के भीतर तक घुसे आ रहे हैं, क्रशर और ईंट–भट्टे। आदिवासी का मन और मूल्य, दोनों ईंटा–भट्टा सा धुंआँ रहा है। भीतर--भीतर जल रही है देह।"[67]इस प्रकार इन आदिवासियों ने मुख्यधारा के लोगों से अच्छाई से ज्यादा बुरे प्रवृति को सीखा। जहां पर चोरी और लड़ाई–झगड़ा का नामो–निशान नहीं था, वहीं इन्होंने चोरी, दलाली, यहां तक की डकैती भी अब सीखा गया है।

यह एक विचारणीय विषय है कि जब कभी भी आदिवासियों के अधिकारों की मांग उठती है या बहिरागत और दिक्कुओं से मुक्ति की बात आती है तो उसका भी नेतृत्व यही दिकू कर रहा होता है। जैसाकि भगवान बाबू आते रहते थे रेणुकाजी के हजारीबाग युनियन ऑफिस में। वह कहते ''चलिए देवी जी पद्मा में, जमीन का आंदोलन कीजिए। सड़क के लिए लड़िए।"[68] अब जैसे–जैसे शिक्षा का प्रसार हो रहा है वैसे ही आदिवासी जनता में जागृति आ रही है। आवश्यकतानुसार अपनी मांग मनवाने के लिए तरह–तरह के आंदोलन कर रहे हैं। जिस प्रकार 'मौसी' में बाहरी लोगों के साथ रहने के कारण उसमें भी दिखाने की प्रवृत्ति आ गई है। इसके साथ ही "अब वह दिकुओं की तरह ही दूर तक की सोचने लगी थी।"[69] विस्थापन

---

[66] टेरोडैक्टिल – महाश्वेता देवी, पृ.32

[67] मौसी – रमणिका गुप्ता, पृ.58–59

[68] मौसी – रमणिका गुप्ता, पृ.59

[69] मौसी – रमणिका गुप्ता, पृ.65

विस्थापितों के लिए कई स्वरूपों को लेकर आती है। जैसाकि शुरुआत में ही कहा गया है कि परिवर्तन समय की मांग है और इससे कोई बच नहीं सका है। इसी तरह मौसी भी इस परिवर्तनकारी प्रवृत्ति से कैसे बची रह सकती थी। जैसाकि "मौसी कोलयरी के नेता के साथ रहने पर नेता का अहम उसमें आ गया था। ऐसे भी जरा–सा पैसा हाथ में आने पर सबसे पहला हमला गरीब लोग अपनी औरत पर करते हैं। यानी दूसरे ब्याह। और औरत सबसे पहला हमला करती है अपनी मेहनत की क्षमता पर। यानी अब उसे काम से मुक्ति मिले–आराम के लिए फुरसत की कुछ घड़ियां मिले– इसलिए आगे एक कामिया ली। मर्द का हमला श्रम पर भी होता है। पर प्राथमिकता में दूसरे नंबर पर आता है श्रम। यानी हाथ से काम करने, शारीरिक श्रम करने में उसे लाज लगने लगती है। उसे तब कोई 'हौला–हलुकु (हल्का) काम चाहिए होता है। कुछ आराम की दरकार भी महसूस होने लगती है। काम के बाद आराम नहीं, बल्कि बिना काम किए, हल्का काम करे, कमाने की चाह। जब तक पैसा हाथ में रहता है, कोई खटने ही नहीं जाता। पैसा 'खलास' होने पर निकलता है काम करने या ढेर पैसा आ गया तो कोई और काम करेगा, खटाली वाला काम छोटा काम है। मेहनत छोटे लोग करते हैं–यह धारणा छोटे–बड़े, अमीर–गरीब, सवर्ण–अवर्ण सबके मन में ऐसी बंधी हुई है, कि काम करने वाले भी न काम करने वालों की जमात में शामिल होने का सपना पालते हैं।"[70]इस देश की विडंबना रही है कि कोई भी अच्छी चीज सीखना नहीं चाहता है। विदेशों में काम करने वालों की कद्र होती है। वहां कोई भी काम छोटा या बड़ा नहीं माना जाता है। काम को केवल काम की नजरों से ही देखा जाता है जिसके एवज में पैसा मिलता है।

विकासशील देशों की समस्या लगभग एक ही जैसी है। जबकि विकसित देशों में कर्मशील व्यक्तियों की इज्जत होती है। इसलिए वे लगातार विकास के पथ पर अग्रसर हैं। लेकिन विकासशील देशों में जैसे भारतीय लोगों की "खुशहाली का मतलब बिना खटे पैसा पाना ही माना जाता है। यह धारणा दिकुओं से मेल जोल के

---

[70] मौसी – रमणिका गुप्ता, पृ.65–66

बाद उस आदिवासी समाज में भी आ रही थी। इनमें काम को छोटा नही माना जाता था। शारीरिक श्रम इन्हें कचोटता नहीं था। दरअसल उनमें कल की कल सोचने की आदतें, इन्हें दो दिन की कमाई एक दिन में मिल जाने पर दूसरे दिन न जाकर दारु पीकर 'सूतने' के लिए प्रेरित करती है। श्रम की उपेक्षा, मानसिकता इनमें आमतौर से नहीं पनपी है।"[71] लेकिन यह मानसिकता आदिवासियों में भी धीरे–धीरे आ रही है। जैसा कि खेत और खलिहानों में खटने वाली मौसी अब असमंजस में है कि "मौसी अब टोकरी ढोएगी? वह तो मौलवी की बीवी, नेताजी की 'नेताइन' रह चुकी है। सलीम की प्रेमिका तक वह एक खटने वाली। एक सबल खुदसर औरत थी। फिर वह परजीवी बन गई।"[72]इस प्रकार मानवीय जीवन की परिवर्तनशीलता का ही परिणाम है कि स्वाभिमान और स्वावलंबी मौसी अब परजीवी बनकर रह गई।

अतः यदि समग्रता में देखा जाय तो हम पाते हैं कि विस्थापन से जनजातीय सभाज में सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तन हुए हैं। झारखण्ड के मूल निवासियों के बारे में उपन्यास 'समर शेष है' में उपन्यासकार विनोद कुमार का कहना है कि"यहाँ की अर्थ–व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था उत्तर बिहार और यू. पी. से बिल्कुल भिन्न थी। यहाँ मामूली से मामूली आदमी के पास घर बनाने के लिए और खेती के लिए अपनी जमीन थी। खेतिहर मजदूर नगण्य। इसलिए सामाजिक ऊँच–नीच भी वैसी नहीं जैसी बहिरागतों के बीच थी। मजबूरी करना, यानी उजरती मजदूर बन जाना, पैसे के लिए मजदूरी करना उनका स्वभाव में नहीं था। और इस वजह से उन लोगों ने शुरूआती दौर में खदानों में काम करना स्वीकार नहीं किया। लेकिन जब खदानों के खनन के विस्तार से, उससे होने वाले प्रदूषण से और बहिरागतों के बढ़ते दबाब से उनकी जमीन छिनने लगी, खेती उजाड़ होने लगी और विस्थापन की समस्या ने अपना विकराल पंजा फैलाया, तब वे भी उजरती मजदूर के रूप में काम करने के लिए आगे बढ़े लेकिन तब तक बहुत देर हो चुकी थी।यह जानकर किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि कोल–खदानों में

---

[71] मौसी – रमणिका गुप्ता, पृ.66

[72] मौसी – रमणिका गुप्ता, पृ.66

काम करने वाले 80 फीसदी नियमित मजदूर बहिरागत है।''[73] आदिवासियों का गैर–आदिवासियों से संपर्क के कारण उनमें कई तरह के परिवर्तन देखा जा सकते हैं। जैसाकि गैर आदिवासी धर्मों के प्रभाव के रूप में हिन्दूकरण, ईसाईकरण और मुस्लिम काल के मुस्लिम प्रभाव आसानी से आदिवासियों में देखा जा सकता है। भारत के संथाल, मुंडा, उरांव, हो, खड़िया आदि जनजातियों के आदिम धर्म 'सरना' है। इनके देवता (बोंगा) उनका मित्र है। जो पेड़ें पर रहता है। यदि हम गहराई में जाकर विचार करें तो पाते हैं कि आदिवसी का धर्म, उसी पहचान, आदिवासी है, जो संकट से गुजर रहा है। उन पर नया धर्म का इस प्रकार प्रचारित होना उनके अस्तित्व को भी खतरे में डालने वाला है।

अतः विस्थापन की पीड़ादायक बदहाली एवं नौकरशाही, ठीकेदारी और माफिया तंत्र से भयग्रस्त आदिवासी बहुल इलाके में बड़ी–बड़ी कोयला परियोजनाओं ने गंभीर सामाजिक–सांस्कृतिक संकट भी पैदा किया है। जिस ओर आमतौर पर ध्यान नहीं दिया जाता है। विस्थापन के नाम पर केवल आर्थिक पक्ष ही उभरता है और वह भी कई बार तो राजनीतिक दलों की नारेबाजी के कर्मकांडों के शोर में खो जाता है। हम सभी जानते हैं कि झारखण्ड में आदिवासियों के कई समूह हैं उसमें खरवार भी एक है। विस्थापन और उत्पीड़न से खरवार जाति का अस्तित्व संकट में है। जैसाकि ''झारखण्ड में खरवार जाति का भोक्ता समाज इन दिनों अस्तित्व संकट के दौर में है। उत्पीड़न और विस्थापन की समस्या के साथ–साथ इस समाज के तमाम लोग नक्सली के नाम पर भी मारे गए हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि झारखण्ड में टंडवा से धनबाद तक के विशाल भू क्षेत्र में अधिसंख्य आबादी खरवार भोक्ता समाज की है। कोयला क्षेत्र तथा बाहरी लोगों के हस्तक्षेप के कारण इस परिक्षेत्र में लगभग 80–90 फीसदी आबादी विस्थापन का शिकार हुई है।''[74] इस प्रकार उपन्यास में लिखी घटना कोरी कल्पना नहीं होती है। यह सच्चाई के धरातल पर ही बुनी जाती है।

---

[73] समर शेष है : विनोद कुमार, पृ0–120.

[74] हिन्दुस्तान (दैनिक, हिन्दी, राँची 21 जनवरी 2002.)

(ड.) विस्थापन और आदिवासी महिलाओं की स्थिति :

अपनी मूल जमीन से दूर रहने के बावजूद वहां की जंगली भूमि को आबाद करने में विस्थापित आदिवासियों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। विकट परिस्थितियों में भी गम के पंजों का प्रतिकार करते हुए सदा खुश रहना इनकी नियति रही है। कठिन समस्याओं का भी हंसकर समाधान करते प्रतीत होते हैं। जैसाकि "कोठी के जंगल में संथालिनें लकड़ी काट रही है और गा रही है। कुछ दिन पहले इसी जंगल में संथालिनों ने एक चीते को कुल्हाड़ी और दाब से मार दिया था। शोरगुल सुनकर गांव के लोग जमा हो गए थे। मरे हुए बाघ को देखकर भी लोगों के रोंगटे खड़े हो गए थे और बहुत तो भाग खड़े हुए थे, किंतु संथालिनें हमेशा की तरह मुस्करा रही थी। मकई के दो दानों की तरह सफेद–दंत–पंक्तियां.....और वही सरल मुस्कराहट। चीते के अचानक हमले से दो–तीन युवतियां सामान्य घायल हो गई थीं। उनके होठों पर भी वैसी ही मुस्कराहट खिल रही थी। उनके जख्मों को धोकर मरहम–पट्टी करते समय डॉक्टर के शरीर में एक बार सिहर की हल्की लहरें दौड़ गई थीं और संथालिनें खिलखिलाकर हंस पड़ी थीं.... हं.... हं... हं.। जख्म पर तेज दवा लगने पर इस तरह हंसना डॉक्टर ने पहली बार देखा, सुना।"[75] आदिवासी महिलाओं की साहस और हिम्मत के कारण ही आदिवासी समाज में बराबरी का स्थान रखती हैं।

हम सभी जानते हैं कि किसी भी लड़ाई और सांप्रदायिक दंगों में सबसे ज्यादा महिला ही प्रभावित होती है। उसमें भी यदि विस्थापित महिला हो तो फिर क्या कहना। ऐसे महिलाओं को इन विकट स्थितियों में दोहरे कष्ट का सामना करना पड़ता है। जैसाकि रेणु जी के 'मैला आंचल' के क्षेत्र पटल पर घटने वाला परिदृश्य कितना वीभत्स और पीड़ादायक है यह दर्शनीय है। "... एकदम फिरी! आजादी है, जो जी में आवे करो: बूढ़ी, जवान, बच्ची जो मिले! आजादी हैं पाट का खेत है।

---

[75] मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु, पृ.153–154

कोई परवाह नहीं है... फांसी हो या कालापानी छोड़ो मत।"[76] इस प्रकार सभी गुस्सा और निर्दयता का शिकार महिलाओं को ही होना पड़ता है। जैसाकि रेणु जी लिखते हैं कि "संथालिनें भी रोती हैं, दर्द से छटपटाती हैं.....चिल्ला.....चिल्लाकर रोती हैं या गाती हैं?.....कुहराम मचा हुआ है पाट के खेतों में, कोठी के जंगल में... कहां दो सौ आदमी और कहों दो दर्ज संथाल, डेढ़ दर्जन संथालिनें! सब ठंडा... सब ठंडा।"[77] इस तरह की मानव निर्मित दुर्घटना आए दिन दिखाई पड़ते हैं। सांप्रदायिक दंगा इसका ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत करता है। भारत–विभाजन की घटना हो या गोधरा कांड से प्रज्जवलित गुजरात की सांप्रदायिक दंगा। इसमें भी महिलाओं को सबसे अधिक पीड़ित पाया गया। इस प्रकार की प्रायोजित सांप्रदायिक दंगा से समाज में व्याप्त असामाजिक प्राणियों को अपना प्रतिशोध लेने का पर्याप्त समय मिलता है। और वह इसका भरपूर उपयोग करने का प्रयास करता है।

भारत आज भी पुरुष प्रधान मानसिकता को लेकर जी रहा है। जिसके कारण यदा–कदा पुरुष महिलाओं पर अपना अधिकार जताने से नहीं चुकते हैं। इसके साथ ही तथाकथित मुख्यधारा के लोगों की पुरुष–सत्तात्मक समाज महिलाओं को अपना अधिकार नहीं जताने देना चाहती है। यही कारण है कि स्त्री–शोषण का इतिहास हजार वर्ष पुराना है। मुख्यधारा के लोगों की नारीवादी दृष्टकोण में आज उदारता आने के कारण महिलाओं की स्थिति बहुत सुधरी है। लेकिन आदिवासी समाज में व्याप्त सांस्कृतिक और धार्मिक कट्टरता आज भी व्याप्त है। शिक्षा और रोजगार ही उनकी स्थिति को सुधार सकती है। इसके साथ पुरुष समाज को नारी के प्रति व्याप्त रूढ़िवादी दृष्टिकोण को बदलना होगा। तभी इस देश की महिलाओं की स्थिति सुधर सकती है। भागदौड़ की जिंदगी में व्यस्त कामकाजी परिवारों को दाई की सख्त आवश्यकता होती है। शहरों में आज भी दाईयों के रूप में काम करने वाली आदिवासी महिलाओं की स्थिति अच्छी नहीं है। आदिवासी क्षेत्रों से दलालों के माध्यम से शहरी कामकाजी परिवार, को उपलब्ध कराते हैं। इनको नियमबद्ध और

---

[76] मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु, पृ.193

[77] मौसी – रमणिका गुप्ता, पृ.193

समयबद्धता की कड़ी से जकड़ दिया जाता है। जिससे ये महिला यदि बीच में घर जाना चाहे तो नहीं जा सकती है। कुछ महिलाएं भागने के प्रयास के कारण वेश्यावृत्ति के कोठे तक पहुंचा दी गई है। कभी–कभी मालिक अपने जर्जर और बुड्ढे हो चुके नौकर से शादी करा देते हैं। जिससे इन महिलाओं के आधे जीवन में ही ये साथ छोड़ देते हैं। इस प्रकार की औरतें न घर की हो पाती है और न घाट की। अंततः ऐसी औरत की स्थिति बहुत खराब हो जाती है, जो न समुदाय वाले अपनाते और न दूसरे समुदाय के लोग। ऐसी स्थिति को देखकर लेखिका का चिंतन होना स्वाभाविक है। "मैं सोच में पड़ गई–क्या होगा इस समाज का? क्या होगा इस औरत का? जिसे न आदिवासी अपना समझता है न 'दिकू' ही अपना कहता है। वह न गांव की रही न शहर की। कहां जाएगी मौसी।"[78] यह सच है कि आदिवासी महिलाओं की स्वतंत्रता और उन्मुक्तता का लाभ सबसे ज्यादा बाहरी लोगों ने उठाया है, क्योंकि इन लोगों को इन आदिवासी महिलाओं की उन्मुक्तता और स्वतंत्रता में वासना दिखती है। वहीं दूसरी ओर बहिरागत आदिवासी महिलाओं के शारीरिक, भौतिक और मानसिक शोषण में भी पीछे नहीं रहे। जैसाकि 'जहां खिले रक्त पलाश' उपन्यास में उपन्यासकार राकेश कुमार सिंह का कहना है " फगुनी सिंह के पुरखे की जमींदारी थी कभी। फगुनी सिंह के बाप दादों के दो ही शौक थे। जमींदारियां खरीदना और शिकार खेलना। डाल्टनगंज से लाट–कलक्टर पलामू में शिकार खेलने आते तो उनकी फिटन सीधे फगुनी सिंह के दरवाजे पर लगती थी। फगुनी सिंह के बाप रघुपत सिंह.....दादा जदुपति सिंह.....,सारे अमला–फैला को हफ्तों भोजन–छाजन कराते! हफ्ते–हफ्ते भर तक जंगल में शिकार होता। हिरन का, सांभर--चीतल का.....,दिख जाये तो बाघ का। गाँवों की ओर निकलते तो शिकार करते आदिवासिन लड़कियों का.....।"[79] इस प्रकार बहिरागतों के आगमन से आदिवासियों का शोषण बढ़ा है इसलिए उपन्यास 'समर शेष है' में कामरेड राय कहते हैं "इस समाज की एक बड़ी खासियत यह है कि यहाँ औरत पर्दे की आढ़ में

---

[78] मौसी – रमणिका गुप्ता, पृ.11

[79] जहां खिले रक्त पलाशः राकेश कुमार सिंह, पृ0–23.

उससे कन्धा मिलाकर काम करती है। झारखण्ड क्षेत्र में बलात्कार की घटनाएँ नहीं होतीं, जैसाकि शहरी खण्ड के 'अग्रसर' समाज में हमेशा होता रहता है।"[80] आज भी आदिवासी इलाकों में आदिवासी द्वारा किसी का बलात्कार जैसी घटना नहीं सुनाई देती है। इस प्रकार सीधे–सादे आदिवासी बेचारे बाहरी लोगों को अपने जैसा समझ कर आदर और सत्कार करते हैं। बदले में उन्होंने हमेशा उनके साथ छल किया है और उनका शोषण किया है। डॉ0 ब्रह्मदेव शर्मा अपनी पुस्तक 'गागरी बेटी माटा माझी की'में लिखते हैं कि "इन बाहरी लोगों के लिए सामान्य आदिवासी लड़की केवल उनके विनोद का साधन मात्र बनकर रह गयी। यहाँ तक कहानियाँ सुनने को मिली है कि वे लड़कियाँ उनके लिए घरेलू वस्तु मात्र बन गयी और बैलाडीला से बाहर जानेवालों द्वारा उस लड़की को वहाँ नये आने वाले के हाथ कुछ पैसा लेकर सुपूर्द कर पशुओं का सा व्यवहार किया गया। कुछ लोगों ने इन लड़कियों को बाहर ले जाना भी प्रारंभ किया। कभी–कभी तो सुना है कि वे लोग लड़की को शादी करके ले जाते हैं और बेच आते हैं।"[81] ऐसी घटनाएँ झारखण्ड छत्तीसगढ़ और मध्य प्रदेश जैसी आदिवासी क्षेत्रों में सुना जा सकती है। उनकी न खोज–बीन हुई न और कोई कार्यवाही हुई। अनेक लड़कियों के माँ–बाप अपना माथा पकड़कर बैठ गये। नहीं मालूम उनकी लड़कियाँ कहाँ गयीं?

इसके साथ ही प्रायः देखा गया है कि किसी शादी–शुदा आदिवासी औरतों का पति से किसी बात को लेकर यदि अनबन होती है तो ऐसे विषयों में वे लोग भरपूर लाभ उठाते हैं। आज भी 'यासीन' जैसे लोगों की कमी नहीं है। जिन्होंने सीता जैसी औरत का भरपूर शोषण किया। उन्हें पत्नी का स्थान तो नहीं दिया, लेकिन अपनी आर्थिक संपन्नता के लिए आदिवासी औरत सीता का उपयोग करता है। उसे पत्नी की तरह रखता है लेकिन जब यासीन को सीता से पुत्र होने लगता है तो वह बाप होने से इंकार करता है। जैसाकि "यासीन ने साफ कह दिया–वह अपना नाम नहीं लिखवाएगा। सीता मानो आकाश से गिर गई। प्यार का भूत सिर पर से उतरने

---

[80] समर शेष है : विनोद कुमार, पृ0–297.

[81] गागरी बेटी माटा माझी की : डॉ0 ब्रह्मदेव शर्मा, पृ0–119.

लगा। नशा उतरने के बाद शरीर का टूटन–सा, उसका विश्वास भी टूटने लगा। बड़ा धोख हो गया उसको। बिना सोचे–समझे वह सारी कमाई आसीन को ही देती रही थी। कभी पूछा तक नहीं था सीता ने कि पैसा क्या किया? कभी सवाल नहीं किया कि जमीन ली है तो उसके नाम पर चढ़ी है कि नहीं? कभी अलग माना ही नहीं था अपने को। पर जिस पर उसने सब न्यौछावर कर दिया, वह अपनी औलाद को गछने (अपनाने) तक के तैयार नहीं। शंका का बीज रोपा गया उस दिन प्यार की बाड़ी में और अविश्वास की लहरें पनप गई मन–मगज की दीवारों–मुंडेरों पर, जिनसे केवल विष–बीज ही झर सकते थे।"[82] इस प्रकार सीता को अब यासीन की सच्चाई का पता लगने लगा था। पुरुष प्रधान समाज की यह विशेषता रही है कि मौका मिलने पर पत्नी को भी छोड़ देता है अन्य प्रेमिका की खोज में। ऐसे में यदि शादी विजातीय हो तो छोड़ने की संभावना और बढ़ जाती है। यासीन ने सीता के साथ यही किया। क्योंकि यासीन अब "ट्रक और जमीन का मालिक तो हो ही गया था। पैसा भी काफी जमा कर लिया था। घर में मां का दबाव पड़ रहा था कि अपनी जात से निकाह कर ले। पर उसे सीता से डर भी लगता था। उससे भी ज्यादा डर लगता था रांची दंगल से। भले ही सीता को बिरादरी से अलग कर दिया गया था। पर अगर सीता को कुछ होगा तो पूरा दंगल उस पर पिल पड़ेगा। यह जानता था। अब तो यह झगड़ा दूसरे–दूसरे रूप भी ले सकता था। भड़काने वाले इसे सांप्रदायिकता से लेकर क्षेत्रीयता तक का आधार भी दे सकते थे।"[83] इस प्रकार की घटनाओं के कारण आदिवासी और गैर आदिवासी में लड़ाई होती है। क्योंकि आदिवासी जानते हैं कि गैर–आदिवासी स्वार्थ परक समझौता ही करते हैं।

हालांकि छल और कपटतापूर्ण लोगों की कोई जाति नहीं होती है। समाज के सभी वर्गों में इस तरह के दगाबाज लोग हैं। जैसाकि बंजारी जैसी सीधी–सादी आदिवासी ग्रामणी को एक आदिवासी युवा ही वस्तु की तरह जहां–तहां बेचता रहा। यही कारण है बंजारी सोचती है "यदि औरत को भी मनुष्य समझा जाता तो मेरे

---

[82] सीता – रमणिका गुप्ता, पृ.35

[83] सीता – रमणिका गुप्ता, पृ.36

साथ यह सब न होता। जोसेफ मेरे साथ दगा क्यों करता? मेरा पति.....क्या कभी किसी आदमी ने दुनिया में अपनी औरत के साथ ऐसा किया होगा, उसके साथ जिसे वह ब्याह करके लाता है, ब्याह के समय ईशू के सामने वफादार होने की कसम खाता है। उसे अपना आधा अंग मानने का ढोंग रचता है।"[84] इस प्रकार देखा जाय तो पाते हैं कि औरत को पुरुषों का अर्धांग कहकर सरासर ठगा जाता है और बेचारी औरत को समझ में नहीं आता है कि ऐसे में क्या करे?

अतः कहा जा सकता है कि भारतीय समाज में ऐसे भी महिलाओं की स्थिति अच्छी नहीं रही है। उसमें विस्थापित आदिवासी महिलाओं की स्थिति तो और दयनीय है। जैसाकि जवान आदिवासी लड़कियों का नौकरानी का काम करने के लिए दिल्ली, मुंबई एवं अन्य बड़े शहरों की ओर पलायन हो रहा है। वैसे तसे यह सिलसिला कई सालों से जारी है, परंतु अब यह एक बड़ी समस्या की तरह उभर कर सामने आयी है। बड़े शहरों की ओर जाने की प्रक्रिया हाल के दिनों में तेजी से बढ़ी है। झारखंड की कई जिलों से हजारों की संख्या मे कम उम्र वाली लड़कियां अपनी पढ़ाई छोड़कर दिल्ली और मुंबई शहरों को जा रही हैं। इस मजबूरी का फायदा कुछ लोग उठाने में लगे हैं तथा लड़कियां ले जाने के लिए व्यवसायी की तरह काम कर रहे हैं। आए दिन इन लड़कियों के साथ अत्याचार एवं उत्पीड़न की घटनाएं देखने–सुनने को मिलती रहती हैं।

---

[84] सूरज किरन की छांव – राजेंद्र अवस्थी, पृ.173

तृतीय अध्याय
हिंदी कहानियों में विस्थापन और आदिवासी जीवन

(क) बाह्य अतिक्रमण और शोषण

(ख) विस्थापन की जनजातीय समाज में प्रतिक्रियाएँ

(ग) गैर सरकारी संगठनों की भूमिका

(घ) पुनर्वास के सरकारी प्रयास और असफलताएं

हिंदी कहानियों में विस्थापन और आदिवासी जीवन

साहित्य मानवीय संवेदनाओं की अभिव्यक्ति का महत्वपूर्ण साधन है। क्योंकि साहित्य में सहित शब्द का एक व्यापक सामाजिक अर्थ भी है जो उसके उद्देश्य और प्रयोजन की ओर संकेत करता है। जैसाकि जब कोई अपने और पराये की संकुचित सीमा से ऊपर उठकर सामान्य मनुष्यता की भूमि पर पहुंच जाय तो समझना चाहिए कि वह साहित्य धर्म का निर्वाह कर रहा है। साहित्य यदि समाज के सभी वर्गों के साथ न्याय नहीं कर रही है, इसका मतलब है कि साहित्यकारों में कुछ दोष है। जहां तक हिंदी साहित्य की बात है, हिंदी साहित्यकारों ने हाशिये पर रहे लोगों की ओर ज्यादा ध्यान नहीं दिया है। हालांकि समय की मांग और आधुनिकता की आवश्यकता ने हिंदी साहित्यकारों को दलितों और आदिवासियों पर लिखने के लिए विवश किया है। जिसके परिणामस्वरूप आज हिंदी कहानियों में विस्थापन की समस्या और इससे प्रभावित होती आदिवासी जीवन को पाते हैं। विस्थापनकारी समस्या आदिवासियों के लिए आज भी उतना ही गंभीर है जितना कि स्वतंत्रता पूर्व थी। यद्यपि भारत के विविध क्षेत्रों में जमींदारी प्रथा, महाजनी व्यवस्था और ब्रिटिश शोषण के विरुद्ध आदिवासी प्रतिरोध सहज देखा जा सकता है। जल जंगल और जमीन के अधिकारों के प्रश्न पर यह प्रतिरोध 19वीं सदी के बाकी दशकों में भी जारी रहा है। इसी का परिणाम था कि ब्रिटिश सरकार ने जंगल और जमीन पर आदिवासियों के अधिकार को सुरक्षित करने के लिए कानून बनाए। पुलिस एवं न्याय प्रणाली को विस्तृत तथा मजबूत किया, किंतु जंगल पर आदिवासियों का अधिकार कालांतर में क्रमशः संकुचित होता गया। इसके साथ ही गरीबी की समस्या और भी व्यापक एवं गंभीर होती गई। यही कारण है कि आदिवासी क्षेत्रों में बाहय अतिक्रमण और शोषण की प्रवृति भी प्रबल होती गई।

(क) बाह्य अतिक्रमण और शोषण :

बाह्य अतिक्रमण और शोषण वैसा ही प्रतीत होता है, जैसाकि आदिवासियों के शोषण का यह हथियार हो। इसके साथ ही शोषक वर्गों की कूटनीतिक चाल उन्हें आपस में लड़ाते रहते हैं, तथा 'फूट डालो' और शोषण करो की नीति अपनाते हैं। आदिवासियों को सही राह दिखाने वालों पर हमला करवाते हैं। आदिवासी क्षेत्रों में वैसी ही स्थिति उत्पन्न कर दिए हैं जैसाकि संजीव की कहानी 'भूखे रीक्ष' के 'मास्टर' फैक्ट्री के बंद होने पर गेट के ठीक सामने मजदूरों को समझाते हुए बोल रहे हैं। "भाईयों, यह पार्शियल लॉक–आउट मजदूरों को फोड़कर उन्हीं को औजार बनाकर उन्हीं के भाईयों पर वार करना है।"[1] अपनी–अपनी नौकरी बचाने की आपसी छीना–झपटी पर उन्हें एक कहानी याद आती है। वे बताते हैं कि "सबसे उतर में एक देश है जहां साल में छह महीनों तक बर्फ जमीं रहती है, उतरी ध्रुव का वाकया है। वहां कुत्ते खींचते हैं घसीटने वाली गाड़ी। एक सैलानी परिवार ऐसी ही एक गाड़ी पर सैर कर रहा था कि वहां सफेद रीक्षों ने गाड़ी का पीछा किया। जैसे ही वे करीब आए, परिवार के मालिक ने बंदूक दागी एक रीक्ष मर गया और बाकी रीक्ष गाड़ी का पीछा करना छोड़कर अपने साथी को खाने में जुट गए। गाड़ी तब तक कुछ आगे निकल गयी। रीक्षों ने अपने साथी को खाने के बाद फिर गाड़ी का पीछा किया। एक बार फिर गोली चली, एक मरा और बाकी रीक्ष गाड़ी का पीछा करना छोड़कर उसे खाने में लग गए। उन्हें तो मांस से मतलब था, किसी का भी हो, क्योंकि वे भूखे थे और चेतनाशून्य.....तो मेरा अभिप्राय है कि हम सब भी भूखे रीक्ष हैं, दौड़ रहे हैं, भूख से निजात पाने के लिए शोषण की गाड़ी के पीछे! अगर व्यवस्था एक को भून दे तो हम सब कुछ भूलकर उसी को खा जाने के लिए टूट पड़ते हैं। हम

---

[1] भूखे रीक्ष 'कहानी' – संजीव : पत्रिका–पुरुष, सितंबर 2002, पृ.106.

भूल जाते हैं कि निशाना हमारा गाड़ी है।"[2] मास्टर एक क्षण को रूकता है, फिर समझाते हुए बोलता है कि "यह एक अंधी दौड़ है भूक्खड़ों की जिसमें हम वक्त से पहले बीमार हो रहे हैं, वक्त से पहले मर रहे हैं, मिट रहे हैं, हमें अफसोस उस सैलानी परिवार पर नहीं है, अफसोस तो उनकी गाड़ी खींचकर ले जाने वाले कुत्तों से है और अपने भूखे रीक्षों से है। तो भाईयों हम यह प्रतिज्ञा करें कि काम पर जाएंगे तो सब वरना कोई नहीं।"[3] इसी प्रकार आदिवासियों को अपने भले और बुरे की परख रखनी होगी। अन्यथा उनका विकास अवरूद्ध अवश्य होगी। यही शोषक वर्गों की चाहत भी है, जिनकी मदद सत्ता में काबिज भ्रष्ट नेता और अफसर करते हैं।

आदिवासी समाज कालांतर से शोषित रहा है जैसाकि देवन्तिया जैसी आदिवासी औरत के साथ होता है। उन्होंने जिस पर भरोसा किया उसी ने उसका निरंतर शोषण किया। इनकी बेचारगी का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है जैसाकि अलगानी पर साड़ी पसारते हुए देवन्तिया कहती है "कब से तो साड़ी फटी है। रोज कहती हूं खरीद दो और यह दुर्गापूजा का नाम लेकर चुप हो जाता है। ट्रक खरीदने के लिए रोपेया है साड़ी खरीदने के लिए नहीं। वैसे चिकनी–चुपड़ी बात करता है। कुछ मांगो तो कंठ ही नहीं खुलता।"[4] यह सच है कि आज भी जोगन बाबू जैसे आदमी की कमी नहीं है। ऐसे लोग सामाजिक, सद्भावना को ठेस तो पहुंचाते ही हैं, इसके साथ ही साथ समाज में व्याप्त असामाजिक तत्वों को प्रोत्साहित करते हैं। जैसाकि राम सिंह पहले इस तरह की किया में लिप्त रहता था अब उसी के पद–चिन्हों पर जगन भी चलने को तत्पर है। इस तरह के लोगों का यदि समय रहते समाधान नहीं निकाला गया तो कालांतर में यह सामाजिक विद्वेष का महान कारण हो सकता है।

---

[2] भूखे रीक्ष 'कहानी' – संजीव : पत्रिका–पुरुष, सितंबर 2002, पृ.107.

[3] भूखे रीक्ष 'कहानी' – संजीव : पत्रिका–पुरुष, सितंबर 2002, पृ.107.

[4] दोहन 'कहानी' – ललन तिवारी : युद्धरत आम आदमी – अप्रैल–जून 2003, पृ.10

इस प्रकार के लोग स्वयं तो कर्त्तव्यों से पलायन करते हैं और दूसरों को कर्त्तव्य का पाठ पढ़ाते हैं। ऐसा व्यक्ति कामचोर और मानवीय संवेदनाशून्य होता है। जैसा कि "बसंतिया के सिर में दर्द है। वह धमा गई है। सिर पर सरसों का तेल लेकर हथेली से थपथपा रही है। जमीन पर टकटकी लगी है। बीच–बीच में बड़बड़ाती है – दिन भर तो सिर पर लहलह सूरज रहता है। एक पल भी खड़ा रहने नहीं देता! मुंशी का बच्चा। कहता है, अपना काम समझकर करो। अपना समझकर करने का तो यही हुआ कि दर्द से सिर जैसा फटा जा रहा है।"[5] अतः कहा जा सकता है कि सिद्धांत और कर्तव्यों का पालन समाज के कमजोर और गरीब वर्गों के बीच देखा जा सकता है। यह गरीब और कमजोर इसलिए है क्योंकि यह सीधा–सादा है, समाज के छल–प्रपंच को समझ नहीं पाता है। वह समाज के हर व्यक्ति को अपने ही तरह समझता है। जैसाकि आज का जगन बाबू कुछ बरस पहले ट्रक खलासी था और जगना कहलाता था और कल की आदिवासी औरत मुन्डरी आज भी मुन्डरी ही कहलाती है।

यही कारण है कि मुन्डरी अतीत के चित्रों को सहेजने लगती है और खुशहाली के उन दिनों को याद कर व्यथित हो उठती है। "कंपनी के निर्माण काल में, एक ही ठेकेदारी में मुन्डरी रेजा और जगन ट्रक का खलासी था उसी के साथ ट्रक पर लदकर आती और जाती। मुन्डरी की किस्मत खुली तो वह हिन्दुस्तान स्टील कंस्ट्रक्शन लिमिटेड में रेजा पद पर बहाल हुई और जगन अपने अनुभव के आधार उसी ट्रक का ड्राइवर। रहती भी उसी के ट्रक पर। जिस दिन साफ कपड़ों में रहती, जूड़े में फूल–पत्ती खोंस कर आती–जगन लट्टू हो जाता।"[6] लेकिन अब जगन को आदिवासियों को फंसाने के लिए अच्छा चारा मिल गया। जगन जैसा छल और कपटी को बस ऐसे ही अवसर की तलाश थी, जिसका उन्होंने भरपूर उपयोग किया। जिससे उनकी स्थिति बेहतर होते गया।

---

[5] दोहन 'कहानी' – ललन तिवारी : युद्धरत आम आदमी – अप्रैल–जून 2003, पृ.10

[6] दोहन 'कहानी' – ललन तिवारी : युद्धरत आम आदमी – अप्रैल–जून 2003, पृ.10

वहीं मुंडरी की स्वाभिमान और आत्मविश्वास निरंतर जाती रही। इसी का परिणाम है कि मुंडरी को अपने पति से भी अलग होना पड़ा। यदि गहनता से विचार करें तो पाते हैं कि मुन्डरी को अपने पति से अलग करने में जगन की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। क्योंकि पति के छोड़ने के बाद मुंडरी जगन के यहां रहने लगती है। जगन को इससे बेहतर कामकाजी और कमाऊ महिला मिलना मुश्किल था। जगन अब उसी के पैसा से उनके बाप का दारु और मुर्गे की दावतें देता। क्योंकि दिखावे की स्वीकृति के लिए मां–बाप और मुहल्ले वालों को खुश करना जरूरी था। इस प्रकार "जगन दारु और मुर्गे की दावतों से पहले उसके बाप को फांसा, फिर मुन्डरी को। गंगा–दामोदर मिल गए। उत्तर–दक्षिण एक हो गए। मुहल्ले वालों के मुंह भोज देकर बंद कर दिए और मुन्डरी के संबंधियों को रूपये। सब के सब विवाह के साक्षी बन गए।"[7] इस तरह अब दोनों साथ–साथ रहने लगे। लेकिन सभी जानते हैं कि अवसरवादी और लोभी लोग हमेशा अपना पाला बदला करते हैं। जगन बाबू भी अपनी दूरदर्शितापूर्ण नीति से आस–पड़ोस के लोगो को मना लेते हैं। लेकिन लोगों को उन दोनों के रिश्तों को लेकर टीका टिप्पणी चलती रही। क्योंकि आदिवासियों को अन्य समुदायों पर आसानी से विश्वास नहीं होता है। इसीलिए लोगों का कहना है कि–"गंगा पार का पुरुष आदिवासी लड़की से विवाह क्यों किया, यह बात मुन्डरी के सामने भले ही स्पष्ट नहीं थी पर औरों के सामने स्पष्ट थी। लोग कहते ससुरे को 'आम के आम गुठली के दाम' मिल गया। उसकी सारी प्राब्लेम ही हल हो गई।"[8] इस आम और गुठली का मुहावरा मुन्डरी को भले ही समझ में नहीं आता हो किंतु जगन अच्छी तरह समझता था, इसलिए कान बंद किए रहता था। वह तो हमेशा से ही अवसर की तलाश में रहता था जिससे वह धन–धान्य से शीघ्र संपन्न हो सके। इससे बेहतर स्थान और मोहरा कोई नहीं मिल सकता था। कहा जाता है जैसा गुरु वैसा चेला। जगन का

---

7 दोहन 'कहानी' – ललन तिवारी : युद्धरत आम आदमी – अप्रैल–जून 2003, पृ.10

8 दोहन 'कहानी' – ललन तिवारी : युद्धरत आम आदमी – अप्रैल–जून 2003, पृ.10

गुरु रामसिंह है उपरोक्त उक्ति दोनों के लिए सही प्रतीत होता है। जैसाकि रामसिंह के बारे में ज्ञात है "प्रांरभ में वह भी ट्रक ड्राइवर था। ट्रक चलाते–चलाते पैटी कांट्रेक्टर बना। दस बारह रेजाओं को पहले अपने चंगुल में फंसाया। आश्रम और ठौर ठिकाना देने के बदले आर्थिक शोषण शुरु किया। शारीरिक शोषण तो कोई मायने ही नहीं रखता।"[9] इस प्रकार रामसिंह एक दिन उनका स्वामी बन गया। उन्हें रामसिंह का संरक्षण मिलता और भोजन–कपड़ा देने के एवज में उसे बीस–बाइस कमाउं हाथ मिले गए। इसी फॉमूर्ले की बदौलत रामसिंह कांट्रेक्टर बन गया। गुरु का मंत्र चेले में आया। उसी के तर्ज पर जगन के भीतर का आदमी जानवर में बदल गया। इस आदमी की हैवानियत की यह पराकाष्ठा ही है कि "एक रात मुन्डरी के बाप को दारु पिलाकर ही मार दिया। रात के पीकर सोचा तो हमेशा के लिए सो गया। मुन्डरी सोने का अण्डा देने वाली मुर्गी साबित हुई। उसने कृत्रिम अभाव का नाटक खड़ा किया और मुन्डरी को चार घंटे रोजाना ओवर टाइम के लिए मजबूर किया।"[10] इस कठोरतापूर्ण शोषण से भी जगन को संतुष्टि नहीं मिली। इसके बाद वह दूसरी रेजा देवन्तिया को फंसा लिया। मुन्डरी द्वारा पूछने पर बता दिया कि अपनी जमात से बिछुड़ गई है। दो–चार दिनों में चली जाएगी और वह दो–चार दिन कभी नहीं आया। अंततः वह उसकी औरत बनकर रह गई। इसके बाद तो तांता ही लग गया। अब मुन्डरी का विरोध जगन के लिए कोई वजन नहीं रखता। इसकी पुष्टि के लिए हर बार चांदी–पीतल के गहनों द्वारा छली जाती रही। नई रेजा को लाने के पहले ही एक महीना से मुन्डरी का आदरभाव बढ़ा देता। प्रसन्न रखने के तरीकों में लिप्त हो जाता। इस प्रकार छोकरियों के विस्तार के साथ बाड़ी का घेरा भी बढ़ता गया। तथाकथित पति जगन ने मुन्डरी के विवशता और कमजोरी का भरपूर लाभ उठाया है। "इन परिस्थितियों में मुन्डरी चुप रहने के सिवाय कर ही क्या कर सकती थी। बड़की

---

[9] दोहन 'कहानी' – ललन तिवारी : युद्धरत आम आदमी – अप्रैल–जून 2003, पृ.10

[10] दोहन 'कहानी' – ललन तिवारी : युद्धरत आम आदमी – अप्रैल–जून 2003, पृ.10.

कहलाने में जब–तब उसे भी अच्छा लगता। अगर वह जगन का पल्लू छोड़ती भी तो किसी पुरुष का पल्लू पकड़ना ही पड़ता।"[11] आज के समाज में महिलाओं का दोहरा शोषण होता है। उसमें मुन्डरी जैसी औरत को एक ओर आदिवासी होने के कारण होता है तो कभी नारी होने के कारण कई तरह की समस्याओं से जूझना पड़ता है। मुन्डरी को जगन के असली नशे के बारे में मालूम है किंतु वह सदैव ही अनिर्णय की स्थिति में डोलती रही। उनको डर था कि यदि वह उनकी बात को नहीं मानेगी तो उसे छोड़ देगा और बाड़ी से निकाल देगा। उसके बदले अन्य किसी को बैठा देगा। इसलिए नहीं चाहकर भी जगन का समर्थन करती रही। यदि हम कहें कि "इस तरह के ठेकेदारों और ठगों के साथ की कठपुतली बनने की आदिवासी महिलाओं की मजबूरी थी। उन्हें काम और आश्रम की तलाश रहती है। देश के विभिन्न भागों से घर–मकान छोड़कर आती थीं भोली–भाली छोकरियां। कोई मां–बाप के साथ कोई जमात के साथ अकेले। जो कोई भी काम और आश्रम के लिए दो गज जमीन देता, उसी के चुंगल में फंस जाती। जहां जरूरत पड़ती, गुलदस्ते की तरह पहुंचाई भी जाती।"[12] आज की भौतिकवादी समाज में ऐसे भी महिलाओं को एक वस्तु रूप में समझा जाता है। आए दिन दहेज उत्पीड़न की घटनाएं समाचार पत्रों में छपती रहती हैं। इस प्रकार आज भी महिलाओं का शोषण जारी है। कहीं–कहीं सामंती मनोवृति के कारण समाज के कमजोर वर्गों की बहु–बेटियों पर जुल्म हो रहा है तो कहीं लड़कियों को अपनी स्वार्थ सिद्ध करने वाला जादुई पिटारा। यही कारण है कि महिलाएं जगह जगह लुटने से बेहतर एक ही जगह लुटवाना पसंद करती हैं। इसके लिए वे जान की बाजी तक लगा देते हैं।

आदिवासी महिलाओं की विवशता का जगन ने भरपूर लाभ उठाया। जगन को अब भीख नहीं, भाड़ा नहीं, हिस्सा नहीं, पूरी की पूरी आमदनी हाथ पर चाहिए

---

[11] दोहन 'कहानी' – ललन तिवारी : युद्धरत आम आदमी – अप्रैल–जून 2003, पृ.11

[12] दोहन 'कहानी' – ललन तिवारी : युद्धरत आम आदमी – अप्रैल–जून 2003, पृ.11.

था। किसी रेजा को पता भी नहीं चलता कि उसको कितनी मजदूरी मिली। पेमेंट ऊपर–ऊपर ही उठ जाता। इस तरह जगन की अब मोटी बचत होने लगी। जिसके चलते वह पैटी कांट्रेक्टर बन गया। इस खुशी में पहली बार सोने का झुमका मुन्डरी के लिए खरीद कर पूरा दिल जीत लिया। वह जेठानी की भूमिका में जीने लगी। इतरा–इतरा कर चलने लगती। जगन को मुंह–मांगी मुराद मिल गई। मैन–पावर पास में थी ही उसने ले लिया भाड़े का दो ट्रक। दो महीने का काम एक ही महीने में करके दिखा दिया। बिल का पेमेंट उठा लिया। इसके बाद पचास हजार का दूसरा कांट्रेक्ट लिया। कांट्रेक्ट का लाभ कांट्रैक्टरी में लगने लगा। रेजाओं की स्थिति में कुछ सुधार करने का प्रयत्न नहीं हुआ। उनकी स्थिति दिन–पर–दिन बदतर होती गई। ढाल स्वरूप मुन्डरी को खुश रखा जाता था। जगन ने एक पुराना ट्रक खरीद लिया। वह अब ट्रक ड्राइवर से ट्रक मालिक कहलाने लगा। अब 'पैटी' शब्द विस्मरण होने लगा। जगन के पीछे आदर सूचक शब्द 'बाबू' जुड़ने लगा। जगन बाबू कहलाने लगा। और बेचारी मुन्डरी, मुंडरी की मुंडरी ही रही। वह कभी भी अपनी रेजाओं का ध्यान नहीं रखता था। उन्हें तो सिर्फ पैसा से मतलब होता था। यही कारण है कि "जिस रेजा को बीमारी हो जाती, गर्भवती या अधिक बाल–बच्चों वाली हो जाती उसे भाड़ा देकर ट्रेन या ट्रक पर चढ़ाकर भेज देता यह कहकर – घर जाओ ठीक होकर आना.....और उसकी जगह दूसरी रेजा को रख लेता। वह दो–तीन रेजाओं को स्थायी तौर पर रखता, जिसमें एक मुंडरी भी थी और मुंडरी इसलिए थी कि उसकी नौकरी स्थायी थी।"[13] इस प्रकार का ठग और दलालों का निरंतर प्रयास रहता कि उनकी रेजाओं को कोई सद्‌बुद्धि नहीं दे। यही कारण है कि 'दोहन' कहानी में सपना और रधिया को मार लगती है। इनकी गलती इतनी ही है कि सपना और रधिया हरिसोरेन का भाषण सुनने गई थी। जैसाकि "हरिशोरेन का भाषण सुनने के एवज

---

[13] दोहन 'कहानी' – ललन तिवारी : युद्धरत आम आदमी – अप्रैल–जून 2003, पृ.11.

में दोनों को मार पड़ी थी हिदायत दी है – तुम लोग जगन कांट्रेक्टर की बीबियां हो। भाषण सुनने नहीं जाना है। जाओगी तो बाड़ी से निकाल दूंगा। सड़क पर मारी–मारी फिरोगी। कोई मां का लाल इस नगर में काम पर नहीं रखेगा।"[14] इस प्रकार देखा जा सकता है कि महिलाओं का शोषण सर्वत्र सुलभ है। इससे आसान टारगेट कोई और नहीं हो सकता है। आदिवासी महिलाएं कामकाजी होती हैं। वह जंगल लकड़ी काटने, पती तोड़ने भी जाती हैं। कहीं भी आने–जाने के लिए स्वतंत्र होती है। इसीलिए ये महिलाएं शारीरिक और आर्थिक शोषण के लिए आदिवासी क्षेत्रों में सर्वसुलभ होती हैं। इसके साथ ही आपकी यदि सरकारी पुलिस और सत्ता में पहुंच है तो फिर क्या कहना। बिन ब्याही का सुहाग मनाना आसान हो जाता है। जैसाकि कहानी 'अगिनदेवी' में कहानीकार का कहना है "जंगल–पुलिस (वनपाल) लड़कियों की बांह पकड़ लेते थे, साथ सोने को बोलते थे। आदिवासियों की इज्जत आबरू दातुन हो गई थी जिसे तोड़ चबाकर फाड़ फेंकते थे। फारेस्टगार्ड।"[15]

जहां एक ओर फारेस्टगार्ड का कहर आदिवासियों के लिए नारकीय बन रहा था। वहीं बद्री मिसिर जैसे लोगों के लिए सोने का अंडा देने वाला क्षेत्र बन रहा था। जैसाकि "कभी जंगल में बसा गांव अब बद्री मिसिर के खेतों से घिरा था, उजड़ गया था जंगल, मशीनें चबा गई थी पेड़ों को, बागुन मुण्डा की जमीन को जोत रहा था बद्री मिसिर का ट्रैक्टर।"[16] अतः कहा जा सकता है कि जंगल–पुलिस आदिवासी लड़कियों को अपने हवस का शिकार बना रही थी। वहीं बद्री मिसिर इस धरती माता का श्रृंगार उतार रहा था। कहा गया है कि पेड़–पौधे और पर्वतों से धरती माता का श्रृंगार किया गया है। धरती माता की ऐसी बेइज्जती भला यह वनपुत्र कैसे सहन कर सकता था। "पिनपिनाया बागुन, बद्री

---

[14] दोहन 'कहानी' – ललन तिवारी : युद्धरत आम आदमी – अप्रैल–जून 2003, पृ.11.

[15] अगिन देवी – राकेश कुमार सिंह : हंस अप्रैल 2004, पृ.58

[16] अगिन देवी – राकेश कुमार सिंह : हंस अप्रैल 2004, पृ.59.

मिसिर के पास पहुंचा तो बद्री मिसिर भरे भैंसे की तरह आंखें फाड़–फाड़कर उसे ताकने लगा था।... बागुन है का रे?.... हमार जमीन पर तोहार गाड़ी काहे चढ़ा है बाबा? बागुन ने पूछा था।"[17] बागुन की अबोधता पर व्यंग्य करते हुए कहा "काहे का क्या माने? बागुन के बिषहीन क्रोध पर व्यंग्य से मुसकाया था बद्री मिसिर, तू तो मर गया रे, हमारी जमीन हमारे पास लौट आई और क्या....?"[18] आज भी समाज में बागुन जैसे कई लोग जीते–जी मार दिए जाते हैं और उनकी संपत्ति को हड़प लिया जाता है। इसी प्रकार संजीव की कहानी 'टीस' में कहानीकार की माँ द्वारा शिबू काका से साँप दिखाने के आग्रह पर वह नवागत ठीकेदार, प्रशासनिक अधिकारियों पर व्यंग्य पर करते हैं '' आपके चारों तरफ साँपइ साँप हैं बोउदी(भाभी)!.....अच्छा तो देखिए, रोड पर जा रहा है एक नंबर का अजगर मुखिया पिनाकी महतो। जितना सरकारी पैसा सामान गाँव के लिए मिलता है, सब साला के पेट में जाता। पीछे–पीछे जा रहा है 'उसका' लड़की पतो। ढेमना(धामिन) है ढेमना। बड़ा–बड़ा बी. डी. ओ.,एस. डी. ओ., कोलरी मैंनेजर, ठीकेदार का पा(पैर) बाँध के दूध पी जाता। कपड़ा और मूडीखना का दूकान वाला सेठ राजस्थान का पीवणा नाग है। सूबेदार रामबली राय गंगा के किनारे का चित्ती (करैत) है तो मुनीम जगेशर सिन्हा 'बोड़ा' साँप है। सूद का विष धीरे–धीरे असर करता और मुनीम के गोलमाल का जहर छौ मास बाद (सपेंरों के अनुसार करैत का विष धीरे–धीरे तेजी पकड़ता है और बोड़ा यानी साँप का छह महीने बाद), चंद्र बोड़ा, जल बोड़ा, धूल बोड़ा–कितना सरकारी बोड़ा गाँ(गाँव) में धूमता। उड़ीसा का शंखचूड़ नाग देखना है तो उड़िया फोरेस्ट अफसद 'दास' को देख लो। तक्षक देखना है तो कोलरी मैनेजर बनर्जी को लो। दो मुहाँ साँप अबी तक आप नहीं देखा तो यूनियन लीडर सिन्हा को देख लो, इसका मूँ छौ–छौ मास बाद नहीं छौ–छौ मिनट पर खुलता–बन्द होता। लेबर से एक बात

---

[17] अगिन देवी – राकेश कुमार सिंह : हंस अप्रैल 2004, पृ.59

[18] अगिन देवी – राकेश कुमार सिंह : हंस अप्रैल 2004, पृ.59.

बोलता,मैंनेजमेंट से दोसरा''[19] इस प्रकार शिबू काका ने अपने व्यंग्य की अद्‌भूत शैली में सभी लोगों की शोषणकारी प्रवृतियों को उजागर किया है।

विस्थापन रूपी विपत्ति जहाँ उन्हें एक ओर घाव दिया वहीं बहिरागत शोषकों उसको और भी गहरा कर दिया। जैसाकि शिबू काका कथन से सहज ही अनुभव किया जा सकता है। शिबू काका का कहना है कि ''साब! जइसे ई लोग हमारा सब कुछ छीन लिया, वइसे मताई को भी छीन लिया। उसके बिना हम जिंदा नहीं रह सकेगा।''[20] इस प्रकार इन लोगों ने आर्थिक शोषण के साथ–साथ शारीरिक शोषण से भी परहेज नहीं किया। जिससे शिबू काका का सब्र का बाँध उस टूट गया जब ''घर में उन्होंने मताई और पुजारी को एक साथ सोते हुए पाया। उनकी दुनिया धू–धू करके जलती हुई–सी लगी।.....और उन्होंने धुरी से मताई की हत्या कर दी। पुजारी वार होने के पहले ही दीये को फूँक कर अंधेरे का फायदा उठाते हुए भाग निकला। शिबू काका ने पीछा किया, मगर उनके पहुँचने से पहले ही उसने मदिर के कपाट बंदकर लिए और शोर मचा दिया। शोर सुनकर गाँव के लोग इकट्ठे हो गए और उन्हें पकड़कर करम के पेड़ से बाँध दिया।''[21] इस प्रकार समाज में प्रायः देखा जाता है कि दोषी अक्सर बच जाया करते हैं। यह न्याय तंत्र की विडंबना ही कही जाएगी कि जिसको सजा मिलना चाहिए, उसको सजा नहीं देकर उसे छोड़ दिया जाता है। इसीलिए शिबू काका कहते है '' हमको तो आप जेल दे दिया, ठीक किया, मगर आप हमारा माफिक उसको जेल देने सकेगा न? काका के इस सवाल का बिना कोई उत्तर दिए उनके कंधे थपथपाकर मैं वापस चला आया था उस दिन।''[22] इस प्रकार कथाकार समाज और न्यायतंत्र में व्याप्त विसंगतियों के कारण जबाब देने में अपने को

---

19 दस प्रतिनिधि कहानियाँ : संजीव, पृ0–27.

20 दस प्रतिनिधि कहानियाँ : संजीव पृ0–31.

21 दस प्रतिनिधि कहानियाँ : संजीव पृ0–31.

22 दस प्रतिनिधि कहानियाँ : संजीव पृ0–31–32.

असमर्थ पाते हैं। हाँलांकि कथाकार ने हरसंभव प्रयास किया कि शिबू काका को न्याय मिल जाए। जैसाकि उनकी उक्तियों से प्रतीत होता है " पंचानन भट्टाचार्य को कानून की गिरफ्त में लेने की मैंने बहुतेरी कोशिश की, मगर सामाजिक, राजनीतिक दबाबों, समीकरणों, समझौतों की मेरी अपनी दुनिया थी, जहाँ सत्य नहीं समर्थ्य की तूती बोलती थी और हर बार कानूनी फंदा छोटा लगने लगता। दिन बीतते गए थे और सवाल की आश्वस्ति का कवच दरकने लगा था। आखिर कवच झड़ गया और रह गया नंगा सवाल, जो बस आँखों–आँखों में ही तैरा करता और जिसकी नोंक मुझे अपने सीने में चुभती सी लगती। धीरे–धीरे सवाल भी सूख गया और अन्ततः रह गया अविश्वास और संदेह का सपाट रूक्ष बियावन।"[23] ऐसे में लोग ना ही कोर्ट जा सकते हैं और ना ही कहीं और जगह न्याय की मांग कर सकते हैं।

हम सभी जानते हैं कि सरकारी पुलिस पर आदिवासियों का कभी विश्वास नहीं रहा है क्योंकि पुलिस ने हमेशा साहूकारों और महाजनों का साथ दिया है। उनके साथ मिलकार उनका शोषण किया है। जैसाकि " घटना 28मई 1992 की है। मुसाबनी में हसन खां को मृत बता कर थाना में एक मामला दर्ज किया गया था और चार लोंगों को पुलिस पकड़ कर ले गई थी। अंपा सोरेन की मौत पुलिस पिटाई से थाना हाजत में हो गई थी। जबकि तीन लोगों को पुलिस ने पीट–पीट कर अपंग कर दिया है। इस पूरे घटनाक्रम में हुआ यह था कि मुसाबनी का हसन खां अपने अन्य मित्रों के साथ उड़ीसा राज्य में बाजार गया था। बाजार जाने के बाद वह नहीं लौटा,उसके गुमशुदगी का मामला दर्ज हुआ, यही मामला हत्या में बदला था और पुलिस इसी मामले में चार लोगों में से एक की मौत पुलिस हाजत में हो गयी थी। कुछ दिन बाद हसन खां जीवित लौट आया। जबकि चार लोंगों में से एक की मौत पुलिस हाजत में हो गई थी और तीन को सजा काटनी

---

[23] दस प्रतिनिधि कहानियाँ : संजीव पृ0–32.

पड़ी।''[24] अतः यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि स्वतंत्रता के इतने साल बाद भी आदिवासियों को न्याय नहीं मिली है ,यही कारण है कि इनका दिनोंदिन विश्वास उठता जा रहा है। यह घटना आज भी फिल्म **अंधा कानून** की याद दिलाती है।

हम सभी जानते हैं कि सड़क जन संचार के महत्वपूर्ण और आधुनिक साधन हैं। यह मानव जीवन और समाज की प्रगति के लिए अत्यावश्यक है। लकिन "बेजुबान वनवासी" इस सड़क से प्रसन्न नहीं हैं। उन लोगों का विचार है कि "सड़क क्या आई, हमारी तो मुसीबत ही आ गई। जो देखो सो हमारे यहां आने लगा। कभी कोई साहब तो कभी कोई ठेकेदार, और बाबू हम तो किसी को चिन्हत नाहीं आमचे बाट सधाय बरिया साहब आसत (हमारे लिए तो सभी बढ़े साहब हैं) हमारे गांव मां आप दसठन हो दसठन तो घर हैं। किसकी बात मानें और किसी न मानें। साहब लोग आते हैं, कोई कुछ मांगता है, कोई कुछ। कुछ की गाड़ी खराब हो जाती है, तो रात को ही गांव के गाव को उठना पड़ता है। रूपये तो देते हैं पर हम क्या करेंगे रूपये का। और एक बात हमें अच्छी नहीं लगती, जिसको देखो वो हमारे गांव में इधर--उधर घूमता है। बाबू आपके यहां भी ऐसा ही होता है क्या? मैं जगदलपुर गया था वहां तो हमें अपने घर में कोई घुसने नहीं देता। पर हमारे घर में कोई दरवाजा तो है नाहीं, सब खुले ही हैं।"[25] उपरोक्त के आधार पर इन वनवासियों के सादगी और निश्च्छलता का अंदाजा लगाया जा सकता है। किस तरह उनके साथ होने वाली घटनाओं को अन्यथा नहीं लेते हैं। इसी सादगीं और भोलेपन का बाहरिगतों ने लाभ उठाया और यही सादगीपन उनके शोषण का हथियार भी बना। आदिवासी क्षेत्रों में उद्योगों की स्थापना के साथ ही बाहरी लोग आए और अपने साथ सामंती प्रवृति को भी लेते आए। सरकारी पुलिस और अधिकारियों की सहयोग के कारण आदिवासी क्षेत्रों पर

---

[24] हिन्दुस्तान (हिन्दी रांची) मंगलवार 05 जुलाई 2005,पृ0–06,

[25] बेजुवान वनवासी – यह अनमोल संयोग – डॉ. ब्रह्मदेव शर्मा, पृ.10,

उन्हीं का शोषण करता रहा। यदि हम यह कहें तो अतिश्योक्ति नहीं होगी कि "समाज के उन तथाकथित ठेकेदारों का व्यवस्था में जो एकक्षत्र राज होता है, उससे भोले–भाले गरीब आदिवासी लड़कर भी हारते रहे थे।"[26] क्योंकि पूरा सरकरी महकमा उनकी गुलाम थी या कह सकते हैं कि दोनों की मिली–भगत से शोषण जारी रहा। इन बहिरागतों की शोषण की पराकाष्ठा तो उस समय और स्पष्ट हो जाती है जब मंगूलू काका की बेटी तक को अपने हवस का शिकार बनाते हैं। जैसा कि "मंगलू काका के मेला जाने पर उस रात पूरन पंडित, पटेल साव, दारोगा बाबू एक साथ उस छोटी मासूम पवित्र बेफिक्र झोपड़ी तक चले आए थे। जंगली जानवर और भी वहशी हो गए थे और गांव वाले जानते हुए भी नहीं देखने–सुनने का बहाना कर रहे थे।"[27] इस प्रकार ये बहिरागत एक तो आदिवासी क्षेत्रों में अवैध तरीकों से प्रवेश कर नौकरी करते और आदिवासियों के जमीन को हड़पा करते हैं। इसके साथ इन आदिवासियों को पुलिसिया डर–दिखाकर भी उनका शोषण किया करते हैं। यही कारण है कि आदिवासी क्षेत्रों में आजकल नक्सली आंदोलन फल–फूल रहा है। सरकार यदि समाज में उपस्थित साहूकार, ठग और अपराध प्रवृत्ति के अधिकारियों पर कार्रवाई नहीं करती है, तो वह दिन दूर नहीं जब पूरे क्षेत्र में अव्यवस्था और मारकाट फैल सकती है।

झारखंड खनिज संपदा से संपन्न राज्य है। लेकिन वहां की जनता गरीब है, क्योंकि वहां के मूल निवासियों के साथ कभी न्याय नहीं हुआ। बस्तर के आदिवासियों का भी यही हाल है। यह अतिशयोक्ति नहीं होगी कि समृद्धि और अभाव यही बस्तर की कहानी है। "एक तरफ है अपार संपदा और सौंदर्य। क्या नहीं है प्रकृति के अंचल में, अछूते वनों में, धरती के गर्भ में। क्या नहीं दिया है ममतामयी प्रकृति ने अपने भोले–भाले, निर्लोभ निस्पृह, उन्मुक्त बालकों को, लेकिन

---

[26] राजकुमारों के देश में – पीटर पॉल एक्का, युद्धरत आम आदमी विशेषांक, आदिवासी स्वर और नये शताब्दी (खंड 1) पृ.224

[27] राजकुमारों के देश में – पीटर पॉल एक्का, युद्धरत आम आदमी विशेषांक, आदिवासी स्वर और नये शताब्दी (खंड 1) पृ.224

बड़ी करूण कहानी है इस नए संपर्क की। यह विकास की नहीं, शोषण की कहानी है, नई प्रशासन व्यवस्था में पुराने तौर तरीकों का कोई स्थान नहीं था। नए व्यवसाय तथा उद्योगों का भी वही हाल रहा। अन्य प्रदेशों के लोग भी नई व्यवस्था के साथ आ गए इस क्षेत्र में। वह देखता ही रह गया – मूढ़ अवाक्।"[28] इस प्रकार उनको कई तरीकों से ठगा गया। जैसाकि वर्तमान सदी के आरंभ में मद्य निर्माण का व्यवसायीकरण अत्यंत अनिष्टकारी साबित हुआ। हम सभी जानते हैं कि "मद्यपान को प्रथा पहले भी इन जातियों में – पर संतुलित रूप में। प्रकृति के साथ सामंजस्यमय जीवन में ये लोग केवल विशेष अवसरों पर स्थानीय उपलब्ध सामग्री से मदिरा बनाते थे और उसका सेवन सामूहिक रूप से करते थे। पर नए संदर्भ में स्वार्थी तत्वों ने अपना व्यवसाय ही बना लिया। आदिवासियों के गले में शराब उड़ेलना। इस अवंछित लाभ का भागीदार प्रशासन भी बन गया। व्यवसायिक और प्रशासनिक व्यवस्था के पंजे में फंसा वह व्यक्ति किससे न्याय की आशा करता। यही नित नए रूप में दुहराई जाती रही।"[29] यह प्रक्रिया स्वतंत्रता के बाद भी चलती रही। कालांतर में कई योजनाएं बनी, कुछ नए मार्ग बने, क्षेत्र खुला, कुछ नए काम हुए पर नई व्यवस्था को उसका विश्वास नहीं प्राप्त हो सका। यही कारण है कि लेखक कहते हैं "उससे कल्याण कार्यों की भी बात कीजिए, उसे एकाएक विश्वास नहीं होता कि बिना प्रत्याशा के कोई उसकी भलाई की बात कर सकता है? जीवन के क्षेत्रों में अब तक उसे छलपूर्ण व्यवहार का ही सामना करना पड़ा है।"[30] इसीलिए सामान्यतः आदिवासी समाज की आधुनिक समाज के कार्यकलापों में आस्था नहीं है। उन पर भरोसा नहीं है, उसका समाज उस संपर्क से दूर ही रहना चाहता है।

---

28 बेजुबान वनवासी – यह अनमोल संयोग – डॉ. ब्रह्मदेव शर्मा, पृ.38–39

29 वही, पृ.39

30 बेजुबान वनवासी – यह अनमोल संयोग – डॉ. ब्रह्मदेव शर्मा, पृ.40

हम सभी जानते हैं कि गरीब और शोषण एक दूसरे के पोषक हैं। अपने पक्ष को युक्ति युक्त बनाने के लिए यह भी कह दिया जाता है कि वनवासी इसलिए गरीब है कि वे लोग काम नहीं करते। यह तर्क सभी गरीबों के लिए समय--समय पर प्रयुक्त होता रहा है। यह मिथ्या है। पूरे देश में ऐसा कोई वनवासी क्षेत्र नहीं, जहां कोई समृद्ध व्यक्ति बड़ी संपदा लेकर गया हो और निजी साधनों से वनवासियों की सहायता की हो। हुआ तो यही है कि जिसके पास कुछ नहीं था, वहां जाकर वे थोड़े समय में ही मालामाल हो गए। स्पष्ट है कि नई व्यवस्था के सहारे वनवासी के श्रम का एक भाग ही हथिया लिया जाता है और फिर एक दुश्चक्र का निर्माण हो जाता है। न जाने कितने क्षेत्रों में अभी भी बंधक मजदूरी की प्रकिया है। कभी शादी विवाह या कुसमय में भूख मिटाने के लिए सौ–पचास रूपये लिए तो पीढ़ी–दर–पीढ़ी उसके ब्याज के एवज में सूखी रोटी पर मजदूरी।"[31] इसीलिए लेखक कहता है कि "बेचारे ऐसे में कैसे पनपे वह और इन आदिवासियों को समझ में नहीं आता कि खाने को दिया था, उस पर ब्याज कैसा?"[32] पर वह नहीं जानते कि आज के भौतिकतावादी समाज में ऐसा ही होता है। वे यह भी नहीं जानते कि सादगी और बेचारगी शोषण को ही आमंत्रित करना है। इसलिए इन वनवासी क्षेत्रों में बिचौलिया, व्यापारियों और ठगों का सैलाब देखा जा सकता है। जो इन बनवासी के शोषण का शिकंजा को निरंतर कसते जाते हैं।

(ख) विस्थापन की जनजातीय समाज में प्रतिकियाएं :

यह सर्वविदित है कि जहां विस्थापन होगा वहां प्रतिक्रियाएं भी होगी। अर्थात् जहां शोषण होगा वहां विरोध भी होगा। यह प्रकृति का नियम है। विचारणीय बात यह है कि सोउद्देश्य परियोजनाओं से विस्थापित होने वाले लोगों

---

31 पगडंडी और राजपथ – डॉ. ब्रह्मदेव शर्मा, पृ.107,

32 पगडंडी और राजपथ – डॉ. ब्रह्मदेव शर्मा, पृ.107,

के साथ न्याय होना चाहिए। प्रायः देखा जाता है कि सरकार उन विस्थापितों के लिए तरह–तरह की घोषणाएं तो करती है लेकिन व्यवहारिकता के धरातल पर कुछ भी नहीं दिया जाता है। उनको पुनर्वास और रोजगारपर प्रलोभन दिया जाता है। लेकिन अंततः वह घोषणा मात्र रह जाती है। यह तो सरकारी नीति निर्देशकों द्वारा जनजातीय समाज को ठगी जाने वाली प्रवृति है। इसके साथ ही समाज में व्याप्त ठगों की शोषण प्रवृति ने भी आदिवासियों को कम तबाह नहीं किया है। जैसाकि साहूकार सर्वप्रथम अपने व्यवसाय के सिलसिले में उनके संपर्क में आए। आदिवासी इलाकों को अपने शोषण और दोहन के अनुकूल पाकर वे लोग प्रायः उन्हीं स्थानों में बस गए। आदिवासियों के अशिक्षा और अज्ञानता का भरपूर लाभ उठाकर उनके जमीनों के मालिक बन बैठे। कहानीकार का यह कथन सत्य प्रतीत होता है। "अब कथा जमीन के उस टुकड़े की जिस पर चलता ट्रेक्टर बागुन मुंडा की छाती पर चलता है।"[33] यह ट्रैक्टर किसी और का नहीं बद्री मिसिर जैसे ठगों का था। हम सभी जानते हैं कि आदिवासियों में कुछ समुदायों का मुख्य पेशा खेती रही है। उनसे यदि भूमि ही छीन लिया जाय तो उससे बड़ी व्यथा कुछ नहीं हो सकती है। क्योंकि ये आदिवासी अनादिकाल से कड़ी मेहनत और अपना खून पसीना बहाकर वन भूमि को साफ कर कृषि योग्य बनाया। लेकिन कालांतर में बदी मिसिर जैसे लोगों की छल–प्रपंच और धोखेबाजी से प्रायः छला जाता रहा। जैसाकि कथाकार का कहना है "कथा तब की है जब बद्री मिसिर की ठेकेदारी में जंगल कटने लगे थे, जंगल की बोली कोई आदिवासी ही लगा सकता था, जंगल बिकता तो था किसी आदिवासी के ही नाम पर लेकिन घुमफिर कर हरदफा मालिक वही होता था.....बद्री मिसिर।"[34] ऐसा इसलिए होता था, क्योंकि बद्री मिसिर और जंगल साहब एक बोतल के यार थे, एक के बदले चार पेड़ काटे जा रहे थे। हम सभी जानते हैं कि आदिवासियों के लिए "लाह, गोंद, चिरौंजी,

---

[33] अगिन देवी – राकेश कुमार सिंह : हंस अप्रैल 2003, पृ.58

[34] अगिन देवी – राकेश कुमार सिंह : हंस अप्रैल 2003, पृ.58

गोलोचन, वंशलोचन, मधु और ईंधन....., सपना होने लगे थे सब। जंगल था तो जीवन था, जीने के सहारे थे, जंगली पदार्थों की बिक्री से नमक भात चलता था... जंगलों में बसे गांव अब नंगे हो रहे थे और साफ जमीन पर गढ़े जा रहे थे बद्री मिसिर के खेत।"[35] इस प्रकार बद्री मिसिर ने सरकारी तंत्रों में व्याप्त भ्रष्टाचार का भरपूर उपयोग अपने लाभ के लिए किया।

उन्होंने आदिवासियों को अधिक से अधिक लाभ का झूठा आश्वासन देकर भी प्रलोभित करने का प्रयास किया। जिस प्रकार "मिसिर ने जादिक मुंडा को लुभाया था। अपना जमीन हमें दे दो जादिक! बदले में जंगल किनारे के जमीन दे देंगे।"[36] लेकिन जादिक मुण्डा मिसिर के चालाकी को अच्छी तरह समझता था, इसलिए वह साफ नहकार गया था। क्योंकि उस जमीन में जादिक मुण्डा की जवानी गली थी। बागुन का बचपन माटी–मटाल हुआ था। उन्होंने "सड़े पत्तों की खाद, बकरी–सूअरों की लेंडी और डोल–बहंगी से ठो–ठोकर पानी...। जमीन को जौ, मडुवे लायक बनाने में बाप बेटे के कंधे पर घटठे पड़ गए थे और अब फिर एक बंजर...? फिर वही हाड़ तोड़ाई...? फिर चार के बदले आठ कट्टे का नया पैंतरा...! ना....।"[37] अब आदिवासी बहिरागतों की मनोवृति को समझने लगे थे। लेकिन विरोध करना आसान नहीं था, क्योंकि पूरा सरकारी तंत्र बद्री मिसिर जैसे लोगों का पीठ लग्गू था। उन्हें तो इस बात का दुख था कि "एक जंगल कट रहा था, पेड़ों का जंगल, एक जंगल उग रहा था, बेरोजगारी का, भूख का, विपन्नता का और अंततः बंधुआ मजदूरी का, अब जंगल–बाबू जंगल में घुसने नहीं देता था, जंगल में जाने का रूपया मांगता था, बात–बात का पैसा, ठेकेदार का परमिट, जंगल–डिपार्टमेंट का परमिंट।"[38] अब इन आदिवासियों का जंगल से अधिकार

---

35 अगिन देवी – राकेश कुमार सिंह : हंस अप्रैल 2003, पृ.58

36 अगिन देवी – राकेश कुमार सिंह : हंस अप्रैल 2003, पृ.58.

37 अगिन देवी – राकेश कुमार सिंह : हंस अप्रैल 2003, पृ.58.

38 अगिन देवी – राकेश कुमार सिंह : हंस अप्रैल 2003, पृ.58.

समाप्त समाप्त होने लगा था, इसके साथ ही जंगल भी समाप्त हो रहे थे। अब इन आदिवासियों के बारे में यदि यह कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि "वनपुत्र या तो पहाड़ों में लगी कसर में खटने लगे थे या फिर बद्री मिसिर के खेतों में, जंगल–पुलिस (वनपाल) लड़कियों की बांह पकड़ लेते थे, साथ सोने को बोलते थे, आदिवासियों की इज्जत–आबरु दातुन हो गई थी जिसे तोड़–चबाकर फाड़ फेंकते थे फारेस्टरगार्ड।"[39] इस प्रकार बहिरागत और सरकारी तंत्रों में लगे कर्मचारी भी उनका शोषण करने लगे थे, ऐसे में इन आदिवासियों में विद्रोही तेवर का होना स्वाभाविक था। कथाकार का कहना है कि "आवें की भांति सुलग रहे मुण्डा इसी कोड़ में खाज! एक सांझ पलाश खंड की देमुनियांकी बेपर्द खूनम खून ल्हास जंगल के किनारे पड़ी मिली तो आवें धुआं उढे, जंगल बाबू के घर को घेरकर हल्ला–गुल्ला मचाने लगे मुण्डा, देमुनियां के बाप ने जंगल बाबू के लकड़ी के घर पर जलती लुकवारी फेंक दी थी।"[40] जिससे पूरा सरकारी बंगला जलकर खाक हो गया। सरकार ने देमुनियां के मौत की सच्चाई को जानना आवश्यक नहीं समझा। ना ही किसी कमिटि से जांच करवाना जरूरी समझा। बल्कि "मामला थाने तक पहुंचा था, जंगल में छापामारी होने लगी, मुण्डाओं ने सरकारी बंगले पर डाका डाला। लूट, आग लग्गी की, नेसलाइट बन रहे हैं आदिवासी।"[41] समस्याओं पर यदि गंभीरता से विचार करें तो पाते हैं कि आज यदि आदिवासी नक्सली बन रहे हैं, तो इसके लिए सरकार भी कम जिम्मेवार नहीं है। क्योंकि प्रायः देखा गया है कि आदिवासियों के साथ न्याय नहीं होता है। आर्थिक अभाव के कारण वे कोर्ट–कचहरी में नहीं जा सकते हैं। वहां भी न्याय मिलेगा? इसकी कोई गारंटी नहीं है। इसकी अभिव्यक्ति कहानीकार के लेखन में भी होता है। वे कहते हैं कि "मुण्डा चोर नहीं होते, मुण्डा डरपोक भी नहीं होते पर जेहल जरीमाने

---

39 अगिन देवी – राकेश कुमार सिंह : हंस अप्रैल 2003, पृ.58

40 अगिन देवी – राकेश कुमार सिंह : हंस अप्रैल 2003, पृ.58.

41 अगिन देवी – राकेश कुमार सिंह : हंस अप्रैल 2003. पृ.59

(जेल–जुर्माने) के भय से मुण्डा गांव छोड़कर जंगल के भीतर धंस–छितरा गए थे।"[42] वे जानते हैं कि जंगली–जानवरों पर भरोसा किया जा सकता है लेकिन किसी भी आदमी पर भरोसा नहीं किया जा सकता है। क्योंकि आदमी से भयंकर जानवर कोई और नहीं हो सकता है। इसीलिए जब कभी भी उसके ऊपर संकट के बादल मंडराते हैं वे जंगल की शरण में जाते हैं। उनके पूर्वज और अस्तित्व की रक्षा करने वालों ने भी जंगलों में शरण ली थी। मुण्डा विद्रोह के प्रणेता बिरसा मुण्डा ने भी जंगल में ही रहकर लड़ाई लड़ी थी।

सरकार द्वारा बागुन मुण्डा को मरा घोषित कर देने से बद्री मिसिर उसकी संपत्ति को हड़प लेता है। बद्री मिसिर अपना अधिकार जताते हुए समझता है कि "सरकारी कागजों में लिखा है बागुन मुण्डा फारेस्टर साहेब की गोली खाकर भागा, जंगल में कहीं मर–खप गया, सियार–कुंडार लाश खींचकर ले गए... आखिर चीन्हता तो दिखा देते कागज भी चकबंदी का गोरामिटिया कागज भी कहीं झूठा बोलता है?"[43] इस कागज पर बागुन को विश्वास नहीं होता है और कहता है "तुम झूठा, गोरमिटिया कागज भी झूठा, तुम्हारा आंख नहीं (बरम) बरम है, हम अभी थाना जाते हैं।"[44]

इस पर बद्री मिसिर डराते हुए कहता है, "ठीक है जा... दरोगा तुझे जिंदा पाते ही डांड़ में रस्सा पहिरा देगा, भर देगा जेहल में, तू दंगाई भगोड़ू है, जंगल बाबू पर घात करने वालों का संगी है।, आग लग्गी किया है रे, हुंडार जैसा नाक मत.....जा थाना और जेहल में लड़ के मर।"[45] इस प्रकार का डर दिखाकर साहूकार आदिवासी क्षेत्रों में अपना साम्राज्य फैलाने का प्रयास करता रहता है। ऐसे लोगों का मुख्य पेशा आदिवासी क्षेत्र में इन आदिवासियों को आपस में लड़ाना

---

42 अगिन देवी – राकेश कुमार सिंह : हंस अप्रैल 2003. पृ.59.

43 अगिन देवी – राकेश कुमार सिंह : हंस अप्रैल 2003.पृ.59.

44 अगिन देवी – राकेश कुमार सिंह : हंस अप्रैल 2003.पृ.59.

45 अगिन देवी – राकेश कुमार सिंह : हंस अप्रैल 2003.पृ.59.

तथा केस–मुकदमा के लिए प्रेरित करना है, जिससे कि उनकी जमीनों को हथियाया जा सके। सीधे–सादे ये आदिवासी बेचारे उनकी चाल को समझ नहीं पाते हैं। जब तक समझने लगते हैं तब तक काफी देर हो चुकी होती है और अपना सर्वत्र लुटा चुके होता है। मुख्यधारा के समाज से अलग रहने के कारण उनकी छल प्रपंचों को समझने में काफी समय लग जाता है।

बागुन मुण्डा को औरों ने तो धोखा दिया ही, अपनों ने भी कहीं का नहीं छोड़ा। सरकार ने तो उसे मरा घोषित कर ही दिया था। लेकिन प्रेमिका की प्रेम से ऐसी आशा नहीं थी। वह तो प्रेमिका की सहानुभूति प्राप्त करने हेतु मिलने निकला था लेकिन वह भी बेवफा ही निकली। जिस प्रकार "वह गांव से निकला था, दो पहाड़ियां, एक मैदान और एक नदी हथियादह सबको पार कर वह बाघा मुंडी पहुंचा था, पाहान से मिलने घानी से भेंट करने पर जमीन की मिल्कियत की तरह पहान का मन भी बदल गया था, पहान साफ–साफ बोला था। गोरमिटिया कागज बोला, बटुरी मिसिर बोला... मर गया, बागुन मुण्डा, मुरदे के आसरे बेटी कुआंरी नहीं बैठती, ल्हास के साथ बेटी ब्याहता? धानी को ब्याह दिया सोहराई के साथ।"[46] इस तरह चारों तरफ से हार गया था बागुन मुण्डा, जीते–जी उसे मार दिया गया था। अब मुरदा मुंह लेकर पलाशखण्ड कैसे जाएगा, ठट्ठा करेंगे लोग मजाक उड़ाएंगे, धानी के बिना गांव लौटा तो क्या इज्जत रह जाएगी हथियादह के विजेता की? गांव की आन–मरयादा सब माटी में मिल जाएगी। अतः बेचैन होकर "बागुन मुण्डा भटकने लगा अभिशप्त प्रेतात्मा की तरह पहाड़ों में लगी क्रशर में पहुंचा तो पत्थर बनकर टूटने लगा, कोलियारी की ओर भटका तो कोयला बनकर डंपर में लदने–उतरने लगा, बीड़ी पत्ते के फंड (खलिहान) में अपने भूत–भविष्य को बोरों में कसने लगा पत्रों के साथ, चार पैसे गुड़ते ही रांची–डाल्नगंज के इजलास में दौड़ लगाता.....कोनो उपाय से हमको जिया दो

---

[46] अगिन देवी – राकेश कुमार सिंह : हंस अप्रैल 2003.पृ.59.

साएब, हमार जमीन बटुरी मिसिर से छोड़वा दो साएब।"[47] लेकिन पैसा के अभाव में कोई सुनने वाला नहीं था। दर–दर भटकता रहा। इसलिए कहानीकार कहता है कि "संवेदना शून्य कोर्ट कचहरियां और भ्रष्ट सरकारी मिशनरी के दरांतीदार पहिए.....छिले उत्साह, टूटे तन और आवें जैसा सुलगता मन.....वापस जंगल और लौट पड़ता बागुन मुण्डा।"[48] इस प्रकार निराश, उदास बागुन बेवसीपूर्ण जीवन बीताने को मजबूरा था। आत्महत्या कर नहीं सकता क्योंकि आत्महत्या तो कमजोर लोग करते हैं। बागुन कमजोर नहीं है, वह तो हथियादह का विजेता है। इसीलिए तो धानी बागुन को उलाहना देती कहती है। "तो का तोर खेतवा हमेशा बटुरिए जोतते रहेगा? आपन जमीन पर उ हुडडी–खोखा के दरवल देख के मन नहीं जाता तोर?"[49] इस पर धानी बागुन को विद्रोह के लिए प्रेरित करती है जिससे उसके सुस्त पड़ी मन में उत्साह और जोश का संचार हो सके। लेकिन बागुन दुनिया की निर्दयता को भली भांति समझ गया है तभी तो कहता है, "... जरता है, बाकी घास और सखुए के पेड़ में कैसी लड़ाई? गोरमिटिया कागज भी कहता है बागुन मर गया, मुरदे का खेत–जमीन पर कोनो हक नहीं बनता।"[50] धानी बागुन की निराशापूर्ण जीवन में उत्साह और जोश भर देना चाहती है। इसीलिए वह एक पुरानी कथा सुनाती है "आसमान की कथा" वह कथा इस प्रकार है कि "....कभी आसमान इतना नीचे था कि कोई हाथ उठाकर उसे छू सकता था। खड़े होकर चलना मुश्किल था। धान कूटती एक बुढ़िया ने एक रोज आसमान से विनती की कि वह तनिक उपर उठ जाए ताकि मुसल उठाने में सुभीता हो। आसमान नहीं माना। बुढ़िया ने धरती को गोहराया कि वही तनिक नीची जो जा, सावन से भादों दुबला...? बुढ़िया को क्रोध आ गया। उसने आसमान

---

47 अगिन देवी – राकेश कुमार सिंह : हंस अप्रैल 2003.पृ.59.

48 अगिन देवी – राकेश कुमार सिंह : हंस अप्रैल 2004.पृ.59.

49 अगिन देवी – राकेश कुमार सिंह : हंस अप्रैल 2003.पृ.61.

50 अगिन देवी – राकेश कुमार सिंह : हंस अप्रैल 2003.पृ.61.

को भी हूमचकर ठेला कि.....।"[51] वह इतना उपर चला गया कि अब सब कुछ सामान्य हो गया। दुष्यंत कुमार ने ठीक ही कहा है। कोई काम मुश्किल नहीं होता। हिम्मत से कामलेने की जरूरत होती है–

कौन कहता है आकाश में सुराख नहीं हो सकता है?

एक पत्थर तो तबियत से उछालो यारों। (साये में धूप)

कहा जाता है कि महिलाएं पुरुषों को बनाती भी हैं और बिगाड़ती भी हैं। धानी जैसे औरत के लिए यही कहा जा सकता है कि उसने बागुन जैसे निराश व्यक्ति के मन में पुरुषत्व भरने का प्रयास किया। वह जिस अंदाज में बागुन को समझाती है वह दृष्टव्य है। "मरद हो, बात के मरम को समझो.....धानी ने कहा था, मेहरिया जैसा ठेहुना तक लोर ठरकाने से कुच्छो नई मिलेगा! तुम जियोगे तभी जमीन भी जिएगी।"[52] धानी के इस दर्शन ने बागुन के शरीर में अद्‌भुत शक्ति का संचार कर दिया। यही कारण है कि वह बद्री मिसिर को उस जमीन पर अपना अधिकार जता देता है और उसे आगाह करता है कि "सवेरे जो तोर ट्रक्टर हमारी जमीन फान के बढ़ा तो लहका देंगे गाड़ी, जो आदमी ट्रैक्टर चलावेगा ओ का तीर मार के ओदार देंगे। हम तो पहिले ही से मरे हैं, का करोगे हमार? दुबारा मारोगे?"[53] बद्री मिसिर को इसका अंदाजा नहीं था कि इतनी होशियारी वाली बात बागुन जैसा अनपढ़ कर सकता है। जिस देह पर माछी भी बढ़ने की हिम्मत नहीं उस पर ऐसी तीर छोल बातें। इसने कभी कल्पना में भी नहीं सोची थी। मुण्डाओं पर जंगलों से बांस–लकड़ी चोराकर बेचने का आरोप लगाने पर बागुन कहता है "मुण्डा चोर नहीं होते बाबा! ऐंठ गया था बागुन मुण्डा.. .....बाकी बताओ तुम, जो मुण्डा लोगन का जंगल लूटे उ का है...? उ है डाकू!

---

51 अगिन देवी – राकेश कुमार सिंह : हंस अप्रैल 2003.पृ.61.

52 अगिन देवी – राकेश कुमार सिंह : हंस अप्रैल 2003.पृ.61.

53 अगिन देवी – राकेश कुमार सिंह : हंस अप्रैल 2003.पृ.61.

जो मुण्डाओं से शिकार का हक छीने.....जंगल में घुसे खातिर रूपये मांगे उ है खून पीवा.....। जो मुण्डा छौड़ियों के साथ जबरई से सुते उ कुक्कुर.....।"[54] इस प्रकार आदिवासियों में प्रतिकार की भावना सामने आने लगी। इसका सहज अनुभव किया जा सकता है। सम्मिलित बिहार के झारखंड क्षेत्रों में अधिकतर कल–कारखाने लगे हैं। लेकिन काम करने वालों में मूल निवासियों की संख्या नगण्य है। इसका कारण यह है कि काम करने वाले बाहर से आए और कुछ को लाए गए तथा बसा भी दिए गए। इसके विपरीत जमीन से विस्थापित लोगों को उचित मुआवजा नहीं दिया गया। तथा जिसे मिला भी वह भी केवल नाम–मात्र का इस प्रकार वे अपने घर में ही परदेशी हो गए। जिसका दर्द वहां के आदिवासियों के मन में रहा। यही कारण है कि झारखंड अलग होने के बाद वहां के आदिवासियों और मूल निवासियों के मन की भड़ास खुलकर सामने आ गई। पहले तो उन्हें केस--मुकदमा हेतु पटना जाना पड़ता था तथा कई तरह की समस्याओं से जूझना पड़ता था। राज्य की राजधानी में भी इसके साथ ठीक से व्यवहार नहीं किया जाता था। शासन की पूरी बागडोर बिहार के लोगों के हाथों में रहता था। आदिवासियों का प्रतिनिधित्व नाममात्र और शक्तिहीन पद से शोभायमान हुआ करता था। विकास के नाम पर नगण्य राशि इन क्षेत्रों को दिया जाता था। झारखंड के लोग सत्ता से दूर रहा करते थे जिसका अनुभव आम जनता को भी थी। यही कारण है कि झारखंड अलग होने के बाद वह अपना क्रोध जहां–जहां निकालता है। जैसाकि 'झारखंड की हवा' कहानी को वर्णित बस यात्रा के समय इन चार आदिवासी युवकों में दिखता है। "...तुम का समजता है, अबी भी तुमारा ही राज है? अब झारखंड का राज है। तु अमारा राज में अमी को लूटेगा, डांटेगा?"[55] इस प्रकार का खुला विद्रोह पहले कम मिलता है। पुराने दिनों को याद करते हुए कहने लगे कि "अमबस में पहले में चढ़ता, आगे बैठता,

---

[54]. अगिन देवी – राकेश कुमार सिंह : हंस अप्रैल 2003.पृ.61.

[55] .झारखंड की हवा : बुद्धशरण हंस – युद्धरत आम आदमी, अप्रैल–जून 2003, पृ.13.

खलासी बोलता – अरे तुम पीछे जाओ। आगे में बाबू बैठेगा। किराया लोगा पूरा, सीट देगा पीछे। पीछे के सीट पर बैठने वाला कोई बाबू आ गया। तब खलासी बोलता, अरे खड़े हो जाओ, बाबू को बैठने दो। हम तुमको द्वारा सीट देता है। खालासी जबरदस्त सीट पर से अमको हटाकर दूसरे बाबू को सीट पर बैठाता। अम पूरा किराया देकर भी खड़े रहता। नीचे बैठकर रात पर ऊँगता, गिरते–परते सफर करता। यही होता रहा है, हमारे साथ। अमको यात्री नहीं, जानवर समजता था तुम लोग जब झारखंड नहीं बना था तब। अब तो झारखंड अमारा राज्य बन गया है। अब कोई अमको सीट पर से उठा के देखे तो कान धर खींच देंगे। तब अमारा वश नहीं चलता था।"[55] अतः यह झारखंड की हवा थी जिसमें आदिवासी निर्भयता से अपनी अस्मिता की सांस ले रहे थे। अब झारखंड राज्य में आदिवासी अपने हक को जानने लगे। अपने आप को पहचानने लगे। अपने राज्य में उनकी अपनी चेतना लौट आई थी, उनका विवेक जाग्रत हो गया था। इसी प्रकार यदि पूरे आदिवासी समुदाय की चेतना और विवेक जागृत हो जाए तो पूरे समाज और देश के लिए हितकर होगा।

डॉ. ब्रमदेव शर्मा की कहानी "वन्या और वनफूल' में विस्थापन की समस्या से पीड़ित आदिवासियों की प्रतिक्रिया देखी जा सकती है। आदिवासियों को हमेशा से दोहरी समस्याओं का सामना करना पड़ा है। एक ओर उन्हें परजीवितापूर्ण जीवन व्यतीत करना पड़ता है, वहीं दूसरी ओर बहिरागतों की शोषणकारी प्रवृतियों से भी झेलना पड़ता है। यही कारण है आयती जैसी आदिवासी औरत तमतमा कर प्रतिक्रिया स्वरूप कहती हैं, "क्या हम आदमी नहीं हैं? तुम मजदूर हो, हां हम मजदूर नहीं हैं। हमें दिन भर काम करवाओ और जूठन खिलाओ, पंद्रह रूपये महीने दो। जब चाहे निकाल दो.....ये हमारी जमीन थी, तुम्हारा बंगला हमारी जमीन पर बना है। तुम्हारा क्या था जो यहां आ गया? यह मकान भी हम रेजा

---

[55] .झारखंड की हवा : बुद्धशरण हंस – युद्धरत आम आदमी, अप्रैल–जून 2003, पृ.13.

मजदूरों ने ही बनाया है....।"[57] इसी प्रकार जहां कहीं आदिवासी क्षेत्रों में उद्योग और कारखाने लगाये गए, वहीं उन्हें परजीवितापूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए विवश होना पड़ा। उन्हें अपना जीवन गुजर–बसर करने के लिए रेज़ा मजदूरी ही करना पड़ता है।

आदिवासी महिलाओं को पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त हैं। पारिवारिक कार्यों में दोनों की समान भागीदारी रहती है। इसलिए आदिवासी महिला प्रायः बाह्य मजदूरी करने भी जाती है। इन उन्मुक्तता और स्वच्छंदता का बाहरी लोगों ने भरपूर लाभ उठाया, क्योंकि इससे आसान और कमजोर शिकार कोई हो ही नहीं सकत था। यही कारण है कि इन लोगों ने सीधी–सादी आदिवासी लड़कियों और औरतों तक का शारीरिक और आर्थिक शोषण किया। जब मन भर जाता तो उन्हें बाजारों में बेच आते या फिर धिक्कारपूर्वक बाहर कर देते। इन्हीं प्रवृत्तियों को देखकर आक्रोशपूर्वक "आयती फुंफकार उठती है। अपने घरवाले की कमाई का बैठा है, इसलिए यह जबान चल रहा है। मजदूरी करो तब मलूम हो। हम अपने हाथ से गिट्टी तोड़ता है तब पेट भरता है, घर में बैठे–बैठे का नहीं। हम आदिवासी किसी का दिया नहीं खाता। हम किसी को धोखा नहीं दिया। पहले जबर्दस्ती करो, लालच दो, फिर कहो फंसाया। घर में औरत हो तब भी हमें पकड़ कर के ले जाओ और फिर कहो हमने फंसाया है। हम तो करने आया था। हम तुम्हारे आदमी को फंसाने आया था? हमारा घर–जमीन है, सब कुछ है, जिंदगी बरबाद कर दिया। हम आदिवासी हैं, तुम औरत है। हम औरत नहीं है।"[58]

इस प्रकार आदिवासियों को दोहरी शोषण मार झेलनी पड़ती है। अपनी बहु बेटियों के साथ होने वाली घटनाओं को देखकर ही सीधे–सादे ये आदिवासी विकास परियोजनाओं तक का विरोध करते हैं, क्योंकि सरकार और पुलिस भी उनके साथ

---

[57] वन्या और फूल –ब्रहमदेव शर्मा.पृ.17.

[58] वन्या और फूल –ब्रहमदेव शर्मा.पृ.18.

न्याय नहीं करते हैं इसलिए वे कहते हैं "हम कोई भी मजदूरी करने नहीं जाएंगे। हटाओ यह कारखाना अपना.....हमारे खेत वापस दे दो।"[59] हम सभी जानते प्रकृति की कोख में दबी खनिज संसाधन की लोभ में प्रगतिशील समाज के दलालों ने प्रकृति रूपी शरीर को चीर डाला है। इन चीरन से न केवल इस प्रकृति की सुन्दरता नष्ट हुई, बल्कि इसके साथ ही वहाँ रहने वाले लोगों की अस्तित्व रूपी बदन को भी चीर दिया है। जिसका अहसास सहज उन जगहों को देखने से होता है। जैसाकि संजीव ने 'टीस' कहानी में लिखा है '' धीरे–धीरे संथालों, सँपेरों की वह बस्ती जंगली फूल की तरह कुम्हलाने लगी थी। कांकड़डीहा कोलियरी के मालिक ने बस्ती के पास ही सुविधा और मुनाफे को ध्यान में रखते हुए एक खुली खदान शुरू कर दी थी और जिसकी निकाली गई मिट्टी और पत्थरों के ढूह के जबड़े में समाते गए थे संथालों के खेत।''[60] यह उनकी भोलापन कहें या बेवकूफी, इस अधिग्रहण के बावजूद न इन्होंने प्रतिवाद किए ना ही प्रतिरोध किया। जैसाकि की इसी कहानी में कहानीकार ने आगे लिखा है ''कुछ तो इसे अपनी नियति मानकर 'चासा' से मजदूर बनकर वहीं ठेकेदारी में खटने लगे थे। लेकिन अधिकांश को यह जिन्दगी रास नहीं आई थी और वे गिद्धनुमा अधिकारियों और क्लर्कों के चंगुल से मुआवजे की आधी–तीही रकम लेकर धनबाद, राँची या पुरूलिया की ओर ढोर–ढाँगर, डेरा–डंडा लेकर चल पड़े थे''[61] कहा जाता है कि खनिज संसाधन आधुनिक युग के लिए वरदान है। लेकिन यह कैसा वरदान है जो वहाँ के निवासियों के लिए विशाल अभिशाप बनकर आती है। ऐसे वरदान से न देश का भला होगा, न ही समाज में खुशहाली बढ़ेगी, इससे तो केवल लोगों में बर्बादी लाएगी। इसीलिए ऐसी स्थिति उत्पन्न न

---

[59] वन्या और फूल –ब्रहमदेव शर्मा.पृ.26.

[60] दस प्रतिनिधि कहानियाँ : संजीव पृ0–26.

[61] दस प्रतिनिधि कहानियाँ : संजीव पृ0–26.

हो इसके लिए सरकार को विस्थापितों के लिए ठोस कदम उठाना चाहिए। जिससे पूरे समाज में खुशहाली आए। जिससे देश निरन्तर विकास के पथ पर बढ़ता रहे।

सर्वविदित है कि कल–कारखाने लगने से लोगों में खुशहाली का वातावरण बनता है लेकिन आदिवासियों के साथ तो ठीक इसके विपरती ही होता है। क्योंकि कल–कारखाने लगने से पूर्व उन्हें दो वक्त का रोटी मिलता था वहीं अब एक जून की रोटी के लिए लालायित रहते हैं। इसके साथ ही उनके प्रियजन और बहु–बेटियां भी अपने से दूर होने लगते हैं। ये लड़कियां कहीं स्वेच्छा से तो कहीं विविध प्रलोभन और सपनों के मायाजाल में उलझा कर शहरों में बेच दी जाती है। इससे उत्तेजित और क्रोधित मांझी कहता है "इसका कुछ फैसला होना चाहिए। कुछ इंतजाम सरकार करे। क्या इसीलिए ये जेल में रेल, ये बैलाडीला यहां आया, जमीन गई, जब हमें भी ले जाओ। पुलिस हटा लो, फिर हमारी बात भी देख लेना। कोई कर तो जाए बदमाशी। देखें तो कोई हमारी लड़की की ओर।"[62]

इस प्रकार की प्रतिक्रिया स्वाभाविक ही प्रतीत होती है। क्योंकि इस दुख को वही समझ सकता है, जिसके साथ ऐसी घटनाएं घटी होती हैं। आदिवासियों के विस्थापन के विरोध स्वरूप इन जनजातीय समाज में उग्र प्रतिक्रियाएं भी देखी गई है। जैसाकि 'बेजुबान वनवासी' कहानी में वे "कहते हैं कि साहब लोग आए और हमारे गांव का भी रिजर (रिज़र्व फारेस्ट आरक्षित वन) हो गया था। आसपास के गांव तो हट गए, पर हमारे बाबा ने कह दिया कि हम तो यहीं मरेंगे, नहीं हटेंगे। सम मांझियों ने सलाह की। इसी गांव के पास एक चौकी थी। सबने मिलकर सब सरकारी लोगों को वहां से भगा दिया। पहले तो बाबा ने अच्छी तरह

---

[62] वन्या और फूल –ब्रहमदेव शर्मा.पृ.26..

कहा कि तुम चले जाओ, पर वे नहीं माने। और एक ने तो बाबा को गाली दे दी। बाबा कहते थे कि फिर उनको मार के भगा दिया।"[63]

अतः देखा जा सकता है कि इन आदिवासियों ने अपने स्तर से विस्थापन का विरोध किया। आज भी विविध क्षेत्रों में विस्थापन का उग्र प्रतिरोध देखा जा सकता है।

(ग) गैर सरकारी संगठनों की भूमिका

सरकारी संस्थाएं कभी–कभी तंत्रों में व्याप्त भ्रष्टाचार के कारण कार्यों का सही संचालन नहीं कर पाती है। ऐसी स्थिति में गैर–सरकारी संगठन इन कार्यों को पूरा करने तथा संस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार को उजागर करने का प्रयास करती है। लेकिन कभी–कभी ऐसा भी देखा गया है कि गैर–सरकारी संगठन सरकारी संस्थाओं में व्याप्त भ्रष्ट लोगों का कठपुतली बनकर रह जाता है। जिस प्रकार "कचहरियों पर न्यूनतम मजदूरी का हक छीनने हेतु मजदूरों को भड़काउ भाषण सुनाने वाले नेता, आदिवासी समाज के दुखःदर्द पर पोथी लिखने वाले घुम्मकड़ पदयात्री, आदिवासी जन–संस्कृति की फोटो उतारने वाले दड़ियल बुद्धिजीवी, पांचसितारा सुविधाओं में रास विलास रचाते हुए सर्वहारा की लड़ाई लड़ने वाले एक्टिविस्ट.....सिंगबोंगा, हड़ामदेउ, कुरमदेउ.....सबके आगे बानर की तरह दांत निपोरकर रिरियाने वाला बागुन मुण्डा.....तमाशे का भालू बागुन मुण्डा..... .....। मरा था, मरा रहा।"[64] इसको बचाने आगे कोई नहीं आया। आदिवासियों के नाम पर 'दुकान' चलाने वाले गैर–सरकारी संगठनों की कमी नहीं है। ऐसे संगठनों या संस्था का न कोई मिशन होता है और न कोई विचार, इसका मकसद किसी न किसी तरह से फंडिंग एजेंसियों से ग्रांट खींच लेना है। काम के नाम पर खानापूर्ति कर रकम को अपनी जेब के हवाले करना है। इन संगठनों ने

---

[63] बेजुबान वनवासी –ब्रहमदेव शर्मा.पृ.12

[64] अगिन देवी – राकेश कुमार सिंह : हंस :अप्रैल 2003.पृ.59.

आदिवासियों के सामाजिक सांस्कृतिक जीवन पर कोई प्रभाव डालने का प्रयास तो नहीं ही किया है। लेकिन इनकी वजह से आदिवासियों के बारे में लोगों के मन में गलत अवधारणाएं अवश्य फैली है। ये संगठन आदिवासियों के बारे में बेहद सतही जानकारियां प्रकाशित करते हैं। इनके लिए आदिवासी समाज 'हड़िया' पीकर नाचने गाने में मस्त रहने वाला समाज है। आदिवासियों की गरीबी, उनके समाज का खुलापन और उनके विशिष्ठ रीति रिवाज 'भद्रलोक' में बिढ़या बिकाऊ माल होता है। इन संगठनों के लोग चार पहिया वाहनों पर सवार होकर पर्यटक की तरह आदिवासी इलाकों में पहुंचते हैं और इसके साथ ही एक सतही जानकारी लेकर चले आते हैं।

इसका कारण यह है कि आज 'आदिवासी' शब्द "गैर–सरकारी संगठनों की दुनिया में सबसे ज्यादा बिकने वाला शब्द है। देश के जो भी आदिवासी बहुल इलाके हैं, वहां दलितों–पिछड़ों की आबादी भी कम नहीं है। लेकिन जहां आदिवासियों के लिए 'काम' कर रहे गैर–सरकारी संगठन की भरमार है, वहीं दलितों पर काम करने वाले गैर–सरकारी संगठन ढूंढ़ने से नहीं मिलते हैं। आखिर वह कौन सा गणित है जिसके चलते गैर–सरकारी संगठन आदिवासियों की सेवा के लिए कच्चे धागे से खिंचे चले आते हैं।"[65] इसके कई कारण हो सकते हैं। लेकिन इसमें सबसे महत्वपूर्ण कारण यह है कि "आदिवासियों के बीच काम कर रहे कई बड़े गैर–सरकारी संगठन संघ व हिंदुत्ववादी संगठनों से जुड़े हुए हैं और इनके लिए विदेशों में बसे प्रवासी भारतीय भारी मात्रा में धन देते हैं। आदिवासी इलाकों में ईसाई मिशनरियों द्वारा संचालित गैर–सरकारी संगठन भी बड़ी तादाद में है, तीसरा समूह उन गैर सरकारी संगठनों का है जो आदिवासी विकास व कल्याण के नाम पर सिर्फ अपनी 'दुकानदारी' चला रहे हैं और जिनका किसी विचारधारा से कोई लेना देना नहीं है। गैर सरकारी संगठन की चौथी बिरादरी है

---

[65] आदिवासी समाज और एन.जी.ओ. – सत्यप्रकाश : जनमत वर्ष 22 अंक 2–3, पृ.77.

जिसे हारे हुए राजनीतिज्ञ चला रहे हैं।"[66] इसके अलावे भी कुछ गैर–सरकारी संगठन जो वास्तव में आदिवासियों के विकास हेतु कार्यरत होंगे, लेकिन उनका भी कुहीं न कहीं स्वार्थ निहित है।

आदिवासी समाज जब भी अपनी रक्षा और अधिकार की बात करते हैं, तो उन पर तरह–तरह के आरोप लगाए जाते हैं। जैसाकि आदिवासी जब विस्थापन रूपी कुचक्र के खिलाफ जब संघर्ष करते हैं तो मुख्यधारा की मीडिया इन्हें विकास विरोधी कहती है। लेकिन सच्चाई कुछ और ही है। जैसाकि लेखक की लेखनी से प्रतीत होता है "विकास से किसे गुरेज है? लेकिन विकास के केंद्र में कहीं स्थानीय समुदायों का हित भी होना चाहिए या नहीं? यही सवाल और मुद्दे जनांदोलन के केंद्र में है। मगर आदिवासी क्षेत्रों में विकास और बदलाव के ये मुद्दे संवेदनशील ढंग से मुख्यधारा की पत्रकारिता का हिस्सा कहां हो पा रहे हैं? झारखंड में छोटानागपुर और संथाल परगना टेनसी एक्ट में संशोधन की पृष्ठभूमि क्या है? यह आदिवासियों की जमीन बचाने की कयायद होती, तब तो औचित्य समझ में आता। लेकिन कुल जमा तो यही है कि अलग राज्य में बहुराष्ट्रीय कंपनियों को माटी के मोल जमीन कैसे मुहैया कराई जाय। जब छोटानागपुर टेनेंसी एक्ट और संथाल परगना टनेंसी एक्ट में संशोधन के खिलाफ आवाज उठती है तो मुख्यधारा की पत्रकारिता 'संशोधनवादियों' के साथ हो जाती है, मुख्यधारा की मीडिया के हितों की रक्षा भी तो इन्हीं संशोधनवादी ताकतों से होती है। निरीह आदिवासियों की किसे चिंता है।"[67] अतः यदि कहा जाय कि संविधान का 'चौथा स्तंभ' भी वैश्वीकरण के चकाचौंध में डूबता दिख रहा है और तटस्थ विश्लेषण की भूमिका से परे सक्रिय हस्तक्षेप का पर्याय तो नहीं ही रह गया है।

---

[66] आदिवासी समाज और एन.जी.ओ. – सत्यप्रकाश : जनमत वर्ष 22 अंक 2–3, पृ.77.

[67] आदिवासी और मीडिया – सुधीर पाल : जनमत , वर्ष 22 अंक 2–4, पृ.94..

अतः इन संस्थाओं को निष्पक्षता पूर्वक गंभीरता से विश्लेषण की सख्त आवश्यकता है, जिससे पूरे देश और समाज का भला हो सके। किसी को भी शिकायत की गुंजाइस नहीं मिले। इससे देश का तो कल्याण होगा ही विश्व परिदृश्य में भी इसकी छवि बेहतर होगी। लेकिन यदि आदिवासियों के प्रति इसी तरह का व्यवहार जारी रहा तो यह देश और समाज के लिए कमी भी अच्छा नहीं होगा। जिसकी चिंता लेखक की लेखनी से प्रतीत होती है, उनका विचार है कि "झारखंडी अस्मिता, आकांक्षा और बराबरी वाले समाज के निर्माण में मुख्यधारा की पत्रकारिता की रूचि और समर्पण दोनों ही कम है। संसाधनों पर हक के बहाने आदिवासियों को और हाशिए पर पहुंचाने वाले तौर–तरीकों को जनप्रिय बनाने में मीडिया लगा हुआ है। संवाद और प्रचार के क्षेत्र में संस्कृतियों की खासियत पर हमला तेज किया जा रहा है। प्रतिरोध के स्वर एकदम क्षीण है, ऐसा इसलिए हो रहा है कि मुख्यधारा की मीडिया की संवेदनशीलता इन मुद्दों के प्रति रश्मी तौर से ज्यादा नहीं है।"[68]यही कारण है झारखंड में रहने वाले इन आदिवासी समुदायों की अस्मिता, गरिमा और सांस्कृतिक परंपरा अलग राज्य बनाने के बाद भी संकट और संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। आदिवासी समुदाय के लोग प्राकृतिक संसाधनों की परिधि से बाहर धकेल दिए गए हैं और मुटठी भर मजबूत लोग राज्य और समाज के भाग्य विधाता और निर्धारक बने हुए हैं।

(घ) पुनर्वास के सरकारी प्रयास और असफलताएं :

सरकार आदिवासियों के विकास के लिए तरह–तरह की परियोजनाएं चला रही है। इससे उन लोगों को कितना लाभ हुआ है, इसकी गंभीरता पूर्वक मूल्यांकन की आवश्यकता है। इसके बगैर कुछ भी कहना असंगत होगा। यह सच है कि विकास के नाम पर आदिवासी क्षेत्रों में बाहरी लोगों को प्रवेश का अच्छा मौका मिल जाता है। जिससे वे अपने विकास और मनोरंजन का अच्छा साधन भी

---

[68] आदिवासी और मीडिया – सुधीर पाल : जनमत , वर्ष 22 अंक 2–3, पृ.95.

ढूंढ लेते हैं। जैसाकि "जंगल में विकास के हरकारे पहुंचे थे। मोरम (बजरी) की सड़कों पर गिट्टी--पत्थर और बांस–लट्ठे ढोने वाले ट्रक हन हनाते थे, खरगोश जैसी चिकनी फुटकती नन्हीं मोटरों में दीकू (बाहरी लोग) आते हैं। आदिवासियों के पर्व–त्यौहार–नाच–तमाशों के फोटो खींचते, लड़कियों को अलग से नचाकर फोटो खींचते और नोट फहराते, मनसोख लड़कियां दीकुओं के मोटरों के मजे भी लेने लगी थी, उनके साथ रात–बिरात, लैन–होटलों में जाने लगी थी। दीकुओं के लिए जंगलीजन खेल–तमाशा.....वन गए, वजनाओं की लाज गई, पुलिस जंगल–दफ्तर और बद्री मिसिर जैसे ठेकेदारों की तीन तरफा लूट का अभयारण्य बन गया था पलामू का जंगल।"[69] ऐसे लोगों से आदिवासी क्षेत्रों की विकास और उनकी पुनर्वास की क्या आशा की जा सकती है। उन्हें तो केवल अपनी चिंता रहती है, जिससे वे आपार संपत्ति संग्रह कर सके। सरकारी राशि को हड़पने या गबन करने के लिए सदा तत्पर रहते हैं। ऐसे में जिसको जहां से हाथ लगा लूट लिया। स्वाभिमान और मानवीय संवेदनाओं को ताक पर रखकर लूट की प्रवृति आज भी आदिवासी क्षेत्रों में सहज देखा जा सकता है। सरकारी दफ्तर के बाबू हो या गांव के छोटे–मोटे ठेकेदार, इन सभी की मिली भगत ने आदिवासी क्षेत्रों के लोगों का जीवन दुःभर कर दिया है।

लेकिन यह भी सच है कि कोई समाज न सोया रहता है, न जागा रहता है। वर्तमान समाज में किसी समाज को सुलाए रखा जाता है और किसी समाज को जगाए रखा जाता है। यह शासन प्रधानों पर निर्भर करता है। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वह अपने इच्छित समाज को जगाता है और अनिच्छित समाज को जागरुक होने से वंचित करता रहता है। अनिच्छित का मतलब आदिवासियों की इच्छा को जाने बिना ही मुख्यधारा के लोगों द्वारा किया गया स्वार्थपरक घोषणा। इसी के आधार पर उनके साथ व्यवहार किया जाता था। जिस प्रकार

---

[69] अगिन देवी – राकेश कुमार सिंह : हंस अप्रैल 2003.पृ.59.

"अविभाजित बिहार के काल में बिहार सरकार ने आदिवासियों के साथ यही सलूक किया। शासन चाहे जिस पार्टी का हो, सबसे ज्यादा छोटानागपुर संथाल परगना क्षेत्र के आदिवासियों को जागरुक करने में कोताही बरती है। मंत्रिमंडल में किसी एक सुधुआ विधायक को जो आदिवासी समाज का होता हो, मंत्री बनाकर उसे वन और आदिवासी कल्याण का मंत्री बना देगा, वे आदिवासी कल्याण के लिए काफी समझते हैं। प्रशासन के उच्च पदों कलक्टर, एस.पी., एस.डी.ओ. आदि पर किसी आदिवासी पदाधिकारी को आदिवासी क्षेत्रों में पदस्थापित करने में उनकी नकारात्मक मनोवृत्ति ज्यादा देखी गयी।"[70] इन कारणों से भी आदिवासियों की मुख्य समस्याओं को समझने में चूक हो जाती थी। कुछ अनजाने होती कुछ जानबूझकर नजरअंदाज कर दिया जाता। क्योंकि समाज से अलग होने के कारण भी उनके प्रति गंभीरता नहीं होती है। जैसाकि "इतिहासकार अशोक कुमार सेन जब पलायन को व्यवस्था के प्रति आदिवासियों का मौन प्रतिरोध बताते हैं, तो दरअसल विकास की क्रूर सच्चाई से ही हमें रू–ब–रू कराते हैं। आजादी के बाद झारखंड में बड़ी परियोजनाएं तो आई, लेकिन उससे आदिवासियों का जीवन और कष्टकर हुआ। विकास की रोशनी ने उनके घरों को लूट लिया। राष्ट्र और राज्य हित के नाम पर वे गांवों से उजाड़ दिए गए। जमीन गई, खेत गए, घर बार छूटा और वे दर–बदर की ठोकर खाने को विवश हुए, पुनर्वास महज एक छलावा और सब्जबाग साबित हुआ।"[71] इस प्रकार विकास के नाम पर ठगे गए ये आदिवासी आज यूं ही बड़ी विकास परियोजनाओं के खिलाफ नहीं हैं। यह उनके लिए जीने–मरने का प्रश्न है। कथित विकास को लेकर चाहे हम जो भी स्वप्न बुनते–बनाते हों। आदिवासियों को पता है कि उस विकास से असमानता की खाई ही और बढ़ेगी। वह इसे एक नए किस्म के उपनिवेशवाद, प्रभुत्ववाद और विशिष्टताओं को नष्ट करने वाली साजिश मानते हैं। क्योंकि विकास के केंद्र में

---

[70] झारखण्ड की हवा–बुद्धशरण हंस, युद्धरत आमआदमी, अप्रैल–जून 2003,पृ.12.

[71] आदिवासी और मीडिया – सुधीर पाल : जनमत , वर्ष 22 अंक 2–3, पृ.94..

कहीं भी स्थानीय समुदायों का हित नहीं होता। यही सवाल और मुद्दे जन आंदोलनों के केंद्र में है। किसे विकास से गुरेज है, लेकिन विकास हमेशा समानुपातिक होना चाहिए, तभी देश और समाज का विकास होगा।

आज विस्थापन एक विश्वव्यापी समस्या के रूप में उभर रहा है। विस्थापन के कई कारण होते हैं, लेकिन आदिवासियों का विस्थापन किसी गंभीर अपराध की सजा प्रतीत होता है। जैसा कि लेखक के विचार से प्रतीत होता है "इनका अपराध इतना है कि इनके पांवों के नीचे अकूत संपदा है, पांव के नीचे की जमीन को खिसकाइए, आदिवासियों का अस्तित्व स्वतः खत्म हो जाएगा। पूंजी, तकनीक और सत्ता का गठजोड़ तो यही करता रहा है और अब झारखंड में इस प्रक्रिया को और तेज करने की कोशिश चल रही है।"[72] हम सभी जानते हैं कि मीडिया एजेंडा निर्धारित करती है। मीडिया जनमत बनाती है, मीडिया नीति–निर्धारकों को एक हद तक संचालित भी करती है। इनकी सक्रिय सहयोग के बगैर इस प्रक्रिया को अंजाम नहीं दिया जा सकता। सरकारी प्रयास रही है कि सभी को न्याय मिले, न्यायपूर्वक नीति–निर्धारण करते हुए विकास प्रक्रिया को गति प्रदान की जाए। लेकिन बिचौलियों की सक्रिया भागीदारिता ने सरकारी विश्वसनीयता को आघात पहुंचाया है। क्योंकि बिचौलिया अपने लाभ के लिए परियोजनाओं से होने वाली विस्थापितों का सही आंकड़ा नहीं दिखाता है।

विस्थापन की समस्या की गंभीरता और पुनर्वास के सरकारी प्रयास और असफलताओं का मूल्यांकन हेतु बेहतर होगा कि विस्थापनकारी परियोजनाओं को एक–एक करके देखा जा जाए। यदि गंभीरतापूर्वक विचार किया जाय तो पाएंगे हैं कि "झारखंड में औद्योगीकरण से मूल निवासियों को बहुत फायदा नहीं हुआ है, इन उद्योगों में नौकरी के लिए उच्च तकनीकी ज्ञान जरूरी था, जिससे आदिवासी वंचित थे, उन्हें ज्यादातर चौथी श्रेणी की नौकरियां मिली और उसमें भी उचित

---

[72] आदिवासी और मीडिया – सुधीर पाल : जनमत , वर्ष 22 अंक 2–3, पृ.95.

प्रतिनिधित्व नहीं मिला। यहां की जनता को विस्थापन की विवशता ही मिली। 1907में टाटा इस्पात उद्योग की स्थापना हुई और उसी वक्त उसने चार गांवों की 3564 एकड़ जमीन हड़प ली। उन चार गांवों के विस्थापित आदिवासी कहां गए, इसकी कोई प्रामाणिक जानकारी नहीं है।"[73] इसी तरह की कई विकास परियोजनाएं झारखंड में लागाई गई। जैसा कि "सन 1958 में एच.ई.सी. (हटिया–रांची) के निर्माण में 24 गांवों की 9200 एकड़ जमीन चली गई, जिससे 2198 परिवारों के कुल 15,450 लोग विस्थापित हुए, बोकारो स्टील प्लांट के लिए भी 46 गांव उजाड़े गए, जिससे कुल 12484 परिवार विस्थापित हुए, उनमें ज्यादातर आदिवासी थे।"[74] इस प्रकार की कई परियोजनाएं देश के विविध भागों में स्थापित हैं। यदि आंकड़े पर ध्यान देते हैं तो पाते हैं कि "अकेल झारखंड राज्य में 15 बड़े और मझोले उद्योगों और थर्मल पावर परियोजनाओं द्वारा 66,087 व्यक्ति विस्थापित हुए, जिनमें 22,473 व्यक्ति (34 प्रतिशत) आदिवासी थे, इनमें एचईसी रांची (22,370), बोकारो स्टील प्लांट(6,701), एचईसी धाटशिला (1,734), तेनू घाट थर्मलपावर परियोजना, बोकारो (515), सिंदरी खाद कारखाना (410), बोकारो थर्मलपावर परियोजना (383) आदि में आदिवासियों का सर्वाधिक विस्थापन हुआ।"[75] इस प्रकार जहां एक ओर औद्यागीकरण से वहां के मूल निवासियों का विस्थापन जारी था, वहीं दूसरी ओर खनन उद्योग से विस्थापन की प्रकिया और तेज हो गई है। "एक अनुमान के अनुसार 1981–85 की अवधि में झारखंड में सीसीएल और ईसीएल ने 1,50,300 एकड़ भूमि पर कब्जा जमा लिया, इसमें 32,700 से अधिक परिवार विस्थापित हो गए, इसमें मात्र 11901 विस्थापितों को ही

---

[73] झारखण्ड के आदिवासी विकास के नाम पर विस्थापन के शिकार –जेरोम जेराल्ड कूजूर ,जनमत , वर्ष 22 अंक 2–3, पृ.69.

[74] झारखण्ड के आदिवासी विकास के नाम पर विस्थापन के शिकार –जेरोम जेराल्ड कूजूर ,जनमत , वर्ष 22 अंक 2–3, पृ.69.

[75] झारखण्ड के आदिवासी विकास के नाम पर विस्थापन के शिकार –जेरोम जेराल्ड कूजूर ,जनमत , वर्ष 22 अंक 2–3, पृ.69.

नौकरी मिली।"[76] लेकिन यह सरकारी इच्छा शक्ति का अभाव ही है कि इन्होंने कभी भी विस्थापित लोगों की समस्याओं पर गंभीरता पूर्वक ध्यान नहीं दिया। इसका परिणाम यह है कि विस्थापितों की संख्या निरंतर बढ़ती गई। इसके साथ ही सामाजिक अव्यवस्था भी बढ़ी। हम सभी जानते हैं कि "दामोदर घाटी के बाद सिंहभूम जिला खनन कार्य का मुख्य इलाका है, यहां 300 से अधिक खादान चालू है। विभिन्न खनन एजेंसियों ने 1,51,000 एकड़ से भी अधिक जमीन लीज पर ले रखी है। खनन कार्य से पर्यावरण भी प्रदूषित हो रहा है, उदाहरण के तौर पर जादूगोड़ा में स्थित यूरेनियम कॉरपोरेशन ऑफ इंडिया का नाम लिया जा सकता है। जादूगोड़ा का पूरा इलाका रेडियोधर्मी प्रदूषण से ग्रस्त है, यहां के तालाब कुंए, नदी, हवा, पानी, जीव–जंतु, पौधे और खुद मानव प्रजाति भी बुरी तरह दुष्प्रभावित हैं। यहां सिर्फ जादूगोड़ा का रेडियोधर्मी कचरा ही नहीं फेंका जाता, बल्कि हैदराबाद के कारखानों में यहां के निर्मित यूरेनियम का अधकच्चे पीला केक का जो इस्तेमाल होता है उसका अवशिष्ट भी वापस यहीं भेज दिया जाता है। इस तरह आदिवासियों बहुल इलाके में विनाशकारी रेडियोधर्मी अवशिष्ट फेंकना आदिवासियों के प्रति जद्यन्यता और संवेदनहीनता का ही सूचक है।"[77] अतः कहा जा सकता है कि कोयला खनन उद्योग ने आदिवासियों को विस्थापित तो किया ही इसके साथ ही पर्यावरण को भी हानि पहुंचाया है। हमें नहीं भूलना चाहिए कि आदिवासियों का सदा से प्रकृति के साथ मित्रवत संबंध रहा है। इसका स्पष्ट प्रमाण आज भी देखा जा सकता है। आज भी वन और जंगलों की सघनता वहीं पाई जाती है जहां आदिवासियों की जनसंख्या अधिक है। अतः यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि आदिवासी और वनों का पारस्परिक संबंध रहा है। इन क्षेत्रों में खनन कार्यों के शुरु होने से विस्थापित आदिवासियों की दुखद संवेदना

---

[76] झारखण्ड के आदिवासी विकास के नाम पर विस्थापन के शिकार –जेरोम जेराल्ड कूजूर ,जनमत , वर्ष 22 अंक 2–3, पृ.69.

[77] झारखण्ड के आदिवासी विकास के नाम पर विस्थापन के शिकार –जेरोम जेराल्ड कूजूर ,जनमत , वर्ष 22 अंक 2--3, पृ.70.

को कहानी 'राजकुमारों के देश में' में भी बखूबी उकेरा गया है। कहानीकार 'मंगलू काका' के माध्यम से बताते हैं कि "वहां एक नई कोलिमरी खुल गई थी। जाने गंगा पार के किन देशों से लोग आकर बसने लगे थे। वर्षों की मेहनत से बने बनाए खेत दब गए थे। मुआवजा के नाम मिली रकम गांव के सरपंच की झोली में चली गई थी। मंगलू काका के दुर्दिन तक शुरु ही हुए थे। काका ने तब बैलों की जोड़ी बेच दी थी। जंगली गाड़ी बूटियों का वे खरीद–फुरोख्त करने लगे थे। जंगली कंद–मूल, फल–फूल कम मिलने लगे। सुरक्षित वन बोर्ड के साथ कंटीली परिधि लग गई थी। जब आया तो पहली बार काका के बेफिक्र, हंसते, सदाबहार चेहरे में अंदेशे, चिंता की काली घटा देखी थी।"[78] स्वच्छंदता से जंगल में घूमने की आजादी अब नहीं रही। यही नहीं अब तो काका भी मजबूरन जंगल छोड़ने की सोच रहे हैं। कहानीकार के सवाल करने पर बाा कहते हैं कि "जंगल तो तुम्हारे बाबूजी कटवा रहे हैं। उधर सरकार कोलियरी शुरु करवा दे रही है, अपुन को जगह कहां। जाने कहां–कहां से लोग भरे जा रहे हैं–यह कहते काका हंस पड़े थे। हां उस बनी बनायी हंसी के अंदर कहीं रिसता सा घाव था जो काका के लाख छुपाने की कोशिश में निर्मोही–सा बेपर्द हो उठता था।"[79] अतः यह कहें कि विकास परियोजनाओं ने वन–प्रांगण में उन्मुक्तता से हंसने वाली आदिवासियों की हंसी छीन ली है। विकासजनित परियोजनाओं से झारखंड में कितने लोग विस्थापित हुए, इसकी स्पष्ट गणना बड़ी ही कठिन और जटिल प्रतीत होती है। जिस तरह पूर्व की योजनाओं में विस्थापितों की गणना का प्रायः अभाव है, जो आंकड़े हैं भी उनमें उन्हीं व्यक्तियों की गणना है, जिनकी भूमि अधिग्रहित की गई। उनमें उन मजदूरों की संख्या का उल्लेख नहीं है, जो जीविका के लिए उस भूमि पर आश्रित थे। प्रायः देखा गया है कि जब भी कोई परियोजनाएं किसी क्षेत्र में लगाई जाती है तो वहां के स्थानीय जनता से कोई परामर्श नहीं लिया जाता

---

[78] राजकुमारों के देश में – पीटर पॉल एक्का, युद्धरत आमआदमी; विशेषांक,2001,पूणांक.55,पृ.223.

[79] राजकुमारों के देश में – पीटर पॉल एक्का, युद्धरत आमआदमी; विशेषांक,2001,पूणांक.55,पृ.223.

है। इसके साथ ही कभी–कभी आदिवासियों को बिना किसी मुआवजा और पुनर्वास के तथा व्यवस्था का दबाव डालकर हटाया जाता है। ऐसे लोगों को विस्थापितों की सूची से भी बाहर कर दिया गया है,क्योंकि सरकार की नजर में वे सरकारी जमीन में बसे हैं। इसके साथ ही सरकारी पद में आसीन पदाधिकारी क्षेत्रीय अशिक्षा का लाभ उठाकर उन क्षेत्रों में अपने भाई–भतीजों को नियुक्त कर देते हैं। इसीलिए मंगलू काका कहते हैं "अब तो सब कुछ कितना बदल गया है। पहले वाला गांव कहां रहा? अब तो सरपंच, मुखिया, पटेल बाबू, पूरन पंडित का राज चले है। सरकारी योजना कहें हैं आदिवासियों के लिए, पर कहां कुछ हौवे है? सब पैसा तो वही जंगली मानुस निगल जात है। थोड़ा सा कहा सुनी नहीं, उनके लठैत मारी–पीटे लगे हैं। अब तो बबुआ गांव छोड़ने की सोचत हैं।"[80] अतः यह सरकारी विकास परियोजनाओं की सही नीति तो नहीं ही कही कही जा सकती है। क्योंकि यह परियोजना जहां सुख–समृद्धि लाने के लिए लगाई जा रही थी, वहीं यह परियोजना आदिवासियों के लिए विस्थापन के साथ–साथ विकट समस्याओं को लेकर अवतरीत हुई। विकासकारी योजनाओं से होने वाले विस्थापितों की आवाज हमेशा सरकारी दावे और आश्वासन के तले दब जाती है। जिसके परिणाम स्वरूप अन्ततः उसके साथ न्याय नहीं हो पाता है। जैसाकि 'टीस' कहानी के कहानीकार का कहना है कि "मुआवजे की अनियमितताओं और विस्थापितों को दिए जाने वाले झूठे आश्वासनों को लेकर पिताजी और मालिकों के बीच की असहमति गहराती गई थी। यद्यपि यूनियन ने उनके फेंके टुकड़ों पर गुर्राना बंद कर दुम हिलाना शुरू कर दिया था, फिर भी पिताजी की खिलाफत उनके आड़े आ रही थी और एक गुंडों के द्वारा घेर लिए जाने पर सचमुच भागकर जान बचानी पड़ी थी हमें। जाते–जवाते आपाधापी में शिबू काका को नौकरी तक न दिला पाए थे वे। बराबर नदी की तटवर्ती खदान में जब पुराने

---

[80] राजकुमारों के देश में – पीटर पॉल एक्का, युद्धरत आमआदमी; विशेषांक,2001,पूणांक.55,पृ.223.

मित्रों की सहायता से उन्हें सिर छुपाने की जगह मिली तो काका का मामला एक तरह से 'आँख ओट, पहाड़ ओट' बन गया।''[81]इस प्रकार समाज में व्याप्त अनियमितता और भ्रष्टचारी प्रवृति ने शिबू काका के 'चासा' और 'मजदूर' के सपने को सदा के लिए दफन कर सँपेरे बनने के लिए विवश कर दिया। आज भी शिबू काका जैसे कई लोग विकासकारी योजनाओं के आस–पास घूमते हुए मिल जातें है।

यही कारण है कि 'राजकुमारों के देश में' नामक कहानी में 'मंगलू काका' जैसे जिज्ञासु आदिवासी कहानीकार से कई तरह के सवाल करते हैं। जैसाकि "कोलियरी किसके लिए खुली थी, खेत–खलिहान किनके दबे थे, जंगली कंदमूल, फल–फूल किनके बंद हुएं थे। सखुए के उन लहलहाते वनों का क्या हुआ था। उनकी जगह सागवान के पेड़ क्यों लगाए गए थे। गांव में राजनीति के बेहद घिनौने, फूहड़ भद्दे चक्र क्यों चलने लगे थे। पढ़े–लिखे बाबू बेवस भोले–भाले लोगों को बेरहमी से लूटते थे। आए दिन चोरी डकैती, बलवा, खून होने लगा था। बहु–बेटियां खुले आम किनसे लुटने लगी थी? खुला–खुला खूबसूरत, बेफिक्र, अल्हड़ सा पहाड़ी अंचल क्यों बेहया सा बेपर्दा किया जाने लगा था।?"[82] लेखक का विचार है कि "काका की निरीह आंखों में बरसाती नदी से उमड़ते सवालों का मेरे पास कोई जवाब न तब था, न अब है।"[83] यह केवल लेखक के लिए ही नहीं पूरे सभ्य समाज के लिए अनुत्तरित प्रश्न ही कहा जाएगा। क्योंकि सभ्य समाज इस प्रकार के फूहड़पन की इजाजत नहीं देता है। इसके साथ ही विकास परियोजनाओं को लेकर कई तरह के सवाल उठाते हैं, जैसाकि "कोलियरी फील्ड ने पूरे पहाड़ी अंचल को समेट लिया है। किनके घर आबाद हुए, देश–समाज कितना आगे बढ़ा, कुछ कहा नहीं जा सकता। हां उस पर्वतीय इलाके में

---

81 दस प्रतिनिधि कहानियाँ : संजीव, पृ0–28.

82 राजकुमारों के देश में – पीटर पॉल एक्का, युद्धरत आमआदमी; विशेषांक,2001,पूणांक.55,पृ.223.

83 राजकुमारों के देश में – पीटर पॉल एक्का, युद्धरत आमआदमी; विशेषांक,2001,पूणांक.55,पृ.223.

आदिवासियों के जो मिट्ठी के घर थे, जहां मंगलू काका जैसा छोटा–सुखी परिवार रहता था, अब न वह रह गया था और न वह प्रकृति–प्रांगण और न ढोलक–मांदर की वह डिमडिमाती आवाज जो उस देश के राजकुमार आजादी, बेफिक्री में खुशी के पलों को उजागर करते उन्मुक्त होकर बजाते थे।"[84] आदिवासियों का विस्थापन केवल कल–कारखानों की स्थापना से ही नहीं हुआ है। वन क्षेत्रों को आरक्षित वन घोषित करने से भी इनको विस्थापित होना पड़ा है। गैर आदिवासी सरकारी अफसर वन क्षेत्रों को आदिवासी क्षेत्र मानने को कतई तैयार नहीं है, जैसाकि 'भारतवर्ष' कहानी में अफसरों का कहना है कि''.....कहीं भी आदिवासियों के बस जाने भर से, कोई इलाका आदिवासी इलाका नहीं हो जाता।''[85] इस तरह की सोच रखने वाले अधिकारियों की आदिवासी क्षेत्रों में कमी नहीं है। 'बेजुबान वनवासी' कहानी में ग्रामीणों का कहना है कि "साहेब लोग कई बार आए और हमारे गांव का भी रिजर (रिजर्व फारेस्ट – आरक्षित वन) हो गया था। आसपास के गांव तो हट गए, पर हमारे बाबा ने कह दिया कि हम तो यही मरेंगे, नहीं हटेंगे।"[86] इस प्रकार के कई उदाहरण आदिवासी क्षेत्रों में देखा जा सकता है। जिससे कालांतर में आदिवासी क्षेत्रों में जन–विद्रोह होने लगता है। यदि सरकार इन समस्याओं को गंभीरतापूर्वक विचार पर पुनर्वास की उचित व्यवस्था करती तो कम से कम आदिवासी जीवन कुछ बेहतर होता। लेकिन इन आदिवासियों को फिर भी कोई शिकायत नहीं है। दुःख उन्हें उस समय होता है, जब उन्हें बिना उचित व्यवस्था के जंगलों से निकाल बाहर किया जाता है। इसीलिए तो 'बेजुबान वनवासी' कहानी के ग्रामीण कहते हैं "पीढ़ी दर पीढ़ी से यही जंगल हमारा घर है। बाप दादों के जमाने से यह जंगल हमारा ही है।"[87] इस प्रकार इन आदिवासियों का जंगल से असीम लगाव ही प्रकट होता है,

---

84 राजकुमारों के देश में – पीटर पॉल एक्का, युद्धरत आमआदमी; विशेषांक,2001,पूणांक.55,पृ.224.

85 आदिवासी कथाः महाश्वेता देवी, (भारतवर्ष, कहानी), पृ0–09.

86 बेजुबान वनवासी ;ब्रहमदेव शर्मा,पृ.12.

87 बेजुबान वनवासी ;ब्रहमदेव शर्मा,पृ.11.

जैसाकि बाबा की बातों से भी प्रतीत होता है। बाबा "बताते हैं कि साहब ने कहा कि सागौना के झाड़ काटवाकर भेजना है बाहर और फिर और सागौना के पेड़ भी लगवाने हैं। तो बाबा ने मना कर दिया कि हमारे तो माटी देव यही हैं और हम तो दूसरी जगह नहीं जाएंगे।"[88] लेकिन इन भोले–भाले आदिवासियों की बात को नहीं माना गया। साहब के नहीं मानने पर उन लोगों ने बड़ी पंचायत की जिसमें पूरे परगना के मांझी आए। पंचायत ने सर्वसम्मति से प्रस्ताव पास किया कि "सरकार को सगौना चाहिए, काट ले, पर हम अपने देव को कैसे छोड़ेंगे, और अगर सरकार नहीं मानती तो हम उड़ियान (उड़ीसा राज्य) चले जाएंगे।"[89] यह आदिवासियों की सादगी और भोलेपन ही है कि सरकार के न मानने पर बहिर्गमन के लिए भी तैयार हैं। लेकिन उन्हें अंततः अपने मूल स्थान से विस्थापित होना पड़ता है। इस प्रकार यह सरकार की आदिवासियों के प्रति नकारात्मक भाव को ही दर्शाता है। जिससे ये आदिवासी निरंतर विस्थापित जीवन व्यतीत करने को मजबूर हैं।

---

88 बेजुबान वनवासी ;ब्रहमदेव शर्मा,पृ.12.

89 बेजुवान वनवासी ;ब्रहमदेव शर्मा,पृ.12.

चतुर्थ अध्याय

हिंदी कथा साहित्य में आदिवासी समाज और उभरती राजनैतिक–सामाजिक चेतना

(क) विस्थापन के प्रति आदिवासी समाज में प्रतिरोधी स्वर

(ख) जन–आंदोलन का उभार

(ग) जागरूकता की राजनीतिक परिणति

(घ) आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था में भागीदारी

(ड.) विस्थापन और आदिवासी महिलाओं की स्थिति

हिंदी कथा साहित्य में आदिवासी समाज और उभरती राजनैतिक–सामाजिक चेतना

जब भी हम विकास योजनाओं की चर्चा करते हैं तब विस्थापन और पलायन की बात आती है। स्वतंत्रता के बाद जब भी विकास योजनाओं की शुरुआत हुई तब स्थानीय आबादी के विस्थापन की समस्याओं को नजरअंदाज कर दिया गया। फलस्वरूप योजनाएं क्रियान्वित हुई और बड़ी संख्या में लोग विस्थापित हो गए। सरकार हमेशा वादा करती है कि विस्थापितों को नौकरी दी जाएगी परंतु जितने लोगों को मिलनी चाहिए, नहीं मिलती है। जिसके परिणामस्वरूप लोग रोजगार की तलाश में क्षेत्र से बाहर जाने लगते हैं और उनकी जिंदगी बंजारों जैसी हो जाती है। इस तरह एक विनाशकारी प्रक्रिया की तरह विस्थापन के बाद बड़े पैमाने पर पलायन शुरु हो जाती है। इस प्रकार की योजनाओं से आदिवासी और गैर–आदिवासी दोनों प्रभावित हुए हैं। लेकिन इन योजनाओं से आदिवासी सबसे अधिक पीड़ित हैं, क्योंकि इस प्रकार की योजनाएं प्रायः आदिवासी क्षेत्रों में अधिक लगे हैं। हम सभी जानते हैं कि आदिवासियों का जीवन–यापन उन क्षेत्रों में व्याप्त सामग्री पर ही निर्भर करती है। अतः कहा जा सकता है कि इन योजना–परियोजनाओं से आदिवासियों का सामाजिक और आर्थिक जीवन सर्वाधिक प्रभावित हुए हैं। इनकी समस्याओं को लेकर समाजशास्त्र और राजनीति शास्त्र में लेखन और शोधकार्य निरंतर जारी है। लेकिन हिंदी कथा साहित्य में इसकी कमी महसूस की जाती है, परंतु उपलब्ध हिंदी कथा साहित्य में आदिवासी समाज और उभरती राजनैतिक–सामाजिक चेतना को देखा जा सकता है।

(क) विस्थापन के प्रति आदिवासी समाज में प्रतिरोधी स्वर :

आदिवासियों को जब कभी भी विस्थापन की समस्या से गुजरना पड़ा है, या अपनी जमीन से जब कभी जबर्दस्ती बेदखल करने का प्रयास किया गया है,

इन्हाने इसका हमेशा प्रतिरोध किया है। यही कारण है "बिरसा मांझी अब लेटा नहीं रह सकता... परसों गांववालों ने मिटिन किया है – बाहरी आदमी यदि चढ़ाई करे तो सब लोग मिलकर मुकाबला करेंगे। कालीचरन भी था और बलदेव भी ... संथाल बाहरी लोग हैं।"[1] इस प्रकार अब संथाल लागों को बाहरी घोषित कर दिया गया है, ऐसे में भला बिरसा मांझी कैसे शांत बैठा रह सकता था, क्योंकि वह तो बाप–दादा की जमीन पर अपना एकाधिकार समझता था। कल तक जिसका विकास कार्यों में तन–मन से लगा रहा, वही अब पराया हो गया। ऐसे में बिरसा मांझी सोचने के लिए विवश है। वे सोचते हैं, "तहसीलदार हरगौरी का सिपाही आज जमीन पर देख रहा था – अखना भदै धान पक गया है। काटेंगे क्या! किस खेत में कौन धान धोएंगे? तो क्या सचमुच में संथालों की जमीन छुड़ा लेंगे तहसीलदार? जमींदारी प्रथा खतम हुई, लेकिन तहसीलदार जमीन से बेदखल कर रहा है। ... बात समझ में नहीं आ रही है...क्या होगा? कल ही देखना है। जमीन पर हल लेकर आवेगा तहसीलदार, भदै धान काटने अवेगा, तब देखा जाएगा। पहले से क्या सोच–फिकर?...वह अब तेरा नहीं रह सकता।..... लेटे–ही–लेटे मादल पर वह हाथ फेरता है.....रिं...रिं...ता...धिन–ता।"[2] बिरसा के पूर्वजों ने विपतकाल में भी धैर्यपूर्वक चिंतन–मनन की जो पाठ सिखाई है, इसी कारण असमंजसता की अवस्था में भी गंभीरता देखी जा सकती है।

गांव के सभी लोग जानते हैं कि "हरगौरी ने सिंध जी के नाम संथाल टोली की पचीस एकड़ जमीन बेनामी करवाई है, जिसमें से दो एकड़ सिंधजी को मिलेगी... खेलावन ने भी पांच बीधा संथाल टोली की बंदोबस्ती की है।"[3] इस अन्यायपूर्ण कार्यों के खिलाफ कोई बोलने वाला नहीं है, क्योंकि ये लोग अपने से अलग समुदाय के हैं। अतः विस्थापित होने से बचने के लिए स्वयं ही प्रतिरोध

---

1 मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु, पृ.185

2 मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु, पृ.185

3 मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु, पृ.189.

करना पड़ेगा। उन्हें यह भी मालूम है कि संकट काल में साथ देने वाला कोई नहीं है। जो करना है उन्हें स्वयं ही करना पड़ेगा। "संथालों को सब मालूम है। अभी बलदेव जी, बावनदास जी और कालीचरण जी सब एक हो गए। संथाल लोग अच्छी तरह जानते हैं कि कोई साथ देने वाला नहीं है।"[4] क्योंकि इन लोगों ने धरमपुर में देख लिया है, इसलिए उन पर भरोसा करना उचित नहीं है। संथालों का विचार है कि "बड़े–बूढ़े ठीक कह गए हैं – यहां के लोगों का विश्वास मत करना। जब जिससे फायदा हो ले लेना। मगर किसी के साथ मत होना। संथाल संथाल है और दिक्कू (गैर संथाल) दिक्कू है। पांचाय (चावल से बना शराब) देह को पत्थल की तरह मजबूत बनाता है और पीकर देखो यहां का दारु, पत्थल का गला देगा। ... दिक्कू आदमी, भट्टी का दारु, इसका विश्वास नहीं।"[5] इस प्रकार हम देखते हैं कि संथालों को गैर संथालों में भरोसा करना तो दूर उनके दारु यानी शहरी दारु पर भी विश्वास नहीं करते हैं। यह शहरी शराब मानव शरीर के लिए ज्यादा घातक बताते हैं। अर्थात् उनका कहना है कि दिक्कू आदमी और उनकी दारु पर विश्वास नहीं किया जा सकता है। यही कारण है कि वह अपनी रक्षा हेतु अपना तीर को सबसे ईमानदार दोस्त मानते हैं। उन लोगों को अपनी तीर पर असीम आस्था है। इसीलिए तो वे कहते हैं "... अरे तीर तो है! यही सबसे बड़ा साथी है। साथी छोड़ सकता है, तीर कभी चूकता नहीं...।"[6] इस प्रकार संथालों में विस्थापन से बचने हेतु तीर से प्रतिकार करने के लिए भी तैयार रहते हैं।

राकेश कुमार सिंह के उपन्यास 'पठार पर कोहरा' में मास्टर संजीव आदिवासियों को अपने अधिकार से अवगत कराते हैं तथा शोषण का प्रतिकार करने को प्रेरित करते हैं। "उससे लड़ेंगे तुम्हारे तीर, जो जहरी जैसाकि वह

---

4 मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु, पृ.189.

5 मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु, पृ.189.

6 मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु, पृ.189.

कहता है "उससे लड़ेंगे तुम्हारे तीर, जो जहरीली कुचला बूटी के रस बुझे हैं। जंगल में बंदूक से ज्यादा शक्तिशाली होंगे ये वाण। तुम्हारी ताकत बेचू तिवारी से सौ गुणी ज्यादा हो जाएगी यदि तुम परहा–पंचायत के अपने जैसे मित्र मुण्डा युवकों में एकता बना सको। एक बार सिर में गमछा बांधो, कन्धे पर धनुष टांगकर देखो, फिर कोई सादान तुम्हें डरा नहीं सकेगा। गजलीठोरी के राजा तुम होगे मुण्डा और यह जंगल तुम्हारा होगा न कि किसी सादान या बेचू तिवारी का"[7] इसी प्रकार उपन्यास 'मैला आंचल' में संथालों को पता चल चुका है कि उसके क्या अधिकार हैं, क्योंकि डॉक्टर ने बता दिया है कि जमीन का असली हकदार या मालिक कौन होता है। "डाक्टर ने कहा कि तुम लोग ही जमीन के असल मालिक हो। कानून है जिसने तीन साल तक जमीन को जोता–बोया है, जमीन उसी की होगी।"[8] अतः संथाल इस जमीन की रक्षा के लिए कुछ भी करने को तैयार है। जिसका भय गैर–संथालों को था। यही कारण है कि "कालीचरण को एकांत में कहती है मंगलादेवी। एकदम अनुनय करके कहती है 'काली' तुम मत जाना। संथाल लोग नहीं मानेंगे, जरूर तीर चलावेंगे। मैं जानती हूं। तुम नहीं जानते काली बाबू, ये लोग कैसे होते हैं, उनकी सूरतें भ्रम में डालने वाली हैं। देखने से पता चलेगा कि बहुत सीधे हैं, मगर...। तुम मत जाना काली, तुम्हें मेरे सिर की कसम।"[9] इससे पता चलता है कि गैर–संथालों को मालूम था कि संथाल लोग अपनी जमीन की रक्षा हेतु प्रतिरोध अवश्य करेंगे। संथालों ने तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद द्वारा हड़पा गया चालीस बीघा वाले बीहन के खेत में बीहन लूटने लगे। जो भी रोकने आया वह इसका शिकार बना। परिणामस्वरूप कोहराम मच गया "मैया रे मैया! बाबा हो बाबा! कौन रोती है? ... रामपियरिया रोती है,

---

7 पठार पर कोहरा –राकेश कुमार सिंह, पृ0–194.

8 मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु, पृ.189–190.

9 मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु, पृ.190.

उनके भाई गनोरी को तीर लग गया? कहां गया! किसने मारा संथालों ने ?"[10] यही हुआ जिसका जिक्र रेणु जी ने किया था। संथालों को तीर पर ज्यादा भरोसा था क्योंकि संथालों की बात और समस्या को सुनने और समाधान करने वाला कोई नहीं था। मजबूरी में संथालों को तीरों का सहारा लेना पड़ा है। "गनोरी ने हल्ला किया, तीर छोड़ दिया। जांघ में लगा है तीर। लहू की नदी बह रही है। बेहोस है। इसपिताल में डाक्टर लाया गया है... संथाल लोग बेखौफ धान का बीचड़ उखाड़ रहे हैं।"[11] संथाल लोग अधिकारपूर्वक खेतों का बीहन उखाड़ रहे थे क्योंकि वह उनके बाप–दादों की जमीन का है। लेकिन वही दूसरी तरफ संथालों को बाहरी आदमी की तरह प्रताड़ित करने हेतु आगे बढ़ रहे थे। इसीलिए तो वे लोग एकजुटता के साथ कह रहे थे "चलो! चलो! मारो! ... साला संथाल! बाहरी आदमी ...जान जाए तो जाय! तहसीलदार विश्वनाथ परसाद की ही जमीन पर धावा किया है! ... चलो रे...।"[12] इस प्रकार यह जमीन दो समुदायों के बीच आंदोलन और विद्वेषता का मुख्य कारण बना।

सभी जानते हैं कि संथालों के साथ तहसीलदार हरगौरी ने न्याय नहीं किया है। लेकिन बाहरी होने के कारण उनका कोई साथ देने वाला नहीं है। जिसका लाभ हरगौरी ने उठाया। जिसके कारण संथालों को अपनी जमीन गंवाना पड़ा। लेकिन कालांतर में संथालों ने इसका भयंकर प्रतिरोध किया, क्योंकि संथालों ने हमेशा से अपनी संपत्ति की रक्षा के लिए लड़ाई की है। इस लड़ाई के लिए सुमतिदास बेतार तहसीलदार हरगौरी को दोषी मानते हैं। सुमरितदास बेतार का कहना है कि "असल में यह सब 'खुरखार', बेदखली, नीलामी तो हरगौरी बाबू ने ही शुरु किया था। हमसे ज्यादा कौन जानेगा?.....तहसीलदारी कारबार को आप क्या समझिएगा? यदि बेदखली और नई बंदोबस्ती की बात नहीं उठती तो गांव में

---

10 मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु, पृ.190.

11 मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु, पृ.191.

12 मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु, पृ.191.

यह लंका काण्ड नहीं होता।"[13] अतः लोगों का पूरा विश्वास है कि इस जंग का कारण एक और एक मात्र तहसीलदार हरगौरी है।

यदि रक्षक ही भक्षक बन जाय तो आदिवासियों का भला कौन करेगा? क्योंकि आदिवासी ऐसे भी शिक्षा से दूर मुख्यधारा से अलग रहने के कारण सरकारी तंत्र के संवाहक और आदिवासी के मध्य संवादहीनता बनी रही, जिसका लाभ उठाकर तथाकथित विकसित और प्रगतिशील लोगों ने भरपूर शोषण किया। ऐसी मौसी के कथन से भी प्रतीत होता है "जानवर तो परक गए थे अनकर संग। जेने (जिधर) ई लोग काम करतै, लकड़ी काटतै, जानवर उधर के रास्ता ही छोयड़ देत रहे। पर सबसे बड़ा खतरा ते सिपाहियन, फारेस्टरवन और रेंजरन से रहल। जानै कौन जात रहल? न आदमी, न जानवर पर जानवर ते भी खूंखार। आदमी जैसन बर्ताव तो करे के मानतै न रहल अ सब। बाघ देइख के साइत (शायद) एवं डर लाय लगतै जैते ई तीनों के देइखके लागाल रहै। कहीं कोई औरतिया पकड़ा गइल तो 'एको' इज्जत नाय छोड़ते 'सिपाहिया'। पैसा भी धराय लेते आर इज्जतो भी। पैसा मिल पर ते 'बुतरु–बुतरु' (बच्चे जैसे छोटे) सखुआ के गाछ भी कटवाय देत जालिम।.. मौसी बड़बड़ाती जाती अपने आप।"[14] इस तरह के अंधेर वहीं हो सकता है जहां के लोगों को मानवमात्र भी नहीं समझा जाता है। मौसी में प्रतिवाद की भावना तो है, लेकिन शक्ति का सत्ता के अभाव में कुछ भी कहने से कतराती है।

आदिवासी क्षेत्रों में जहां सिंचाई की सुविधा का अभाव और भूमि की कमी हो वैसे क्षेत्रों के ग्रामीण आदिवासी मजदूरी करके या फिर लकड़ी काटकर जीवन गुजर बसर करता है। जंगल की लकड़ी बेचकर मौसी को अच्छा पैसा हाथ लग जाता। जिससे उनका गुजारा होता। लेकिन "जब–जब इन सिपाहियों और हाकिमों का तबादला होता तो बड़ी मुसीबत आ जाती। 'नयका' हाकिम अपना

---

13 मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु, पृ.204.

14 मौसी–रमणिका गुप्ता,पृ.14.

सिक्का जमाने के लिए खूब जुल्म करता, कभी लकड़ी 'सीज' कर लेता, कभी कोर्ट–केस कर देता, कभी जुर्माना लगा देता। एक–दो दिन हाजत में रख देता। किसी–किसी को तो 'जेहल' भी भेज देता। छः आठ महीना बाद जमानत पर छूटते ही वे बेचारे ढेर 'काचा–पैसा' खर्च हो जाता जमानत कराने में। फिर कुछ दिन बाद सब ठंडा हो जाता। वहीं 'दस्तूरी' बंधा लेता।"[15] ऐसे में कभी न कभी तो विस्फोट होना ही था। तब जैसन चलता था वैसेने चलै लगता। चोरवन से ज्यादा पैसा लेके बड़–बड़ गाछ कटवाय देत रहा और गरीबन से जे सूखी लकड़ी बेच–बूच कर गुजर–बसर करै है, थोड़ा कम ही घूस लेत रहा। पन लेता जरूर। सुंदर जनी देख के तो सार (साला) पीछे पड़ जात रहा। मौसी सोच–सोच कभी गुस्साती, कभी मुस्काती।"[16] मौसी का कभी गुस्साना और मुस्काना उस समाज और व्यवस्था पर किया व्यंग्य है।

जिस जंगल में आदिवासियों को जीवन मिला और उसी जंगल में जीवन का पाठ पढ़ा, आज उसी जंगल से आदिवासियों को निर्वासित किया जा रहा है। ऐसे में उनका प्रतिरोध स्वाभाविक है। जैसाकि, "लाठा–छावन और जलावन देना होगा। जोती जमीन बाहर करो, और सबसे जोरदार नारा तो था, 'घूस नहीं अब घूंसा देंगे।' इसी नारे पर तो सब जंगल के सिपाही जंगल छोड़कर भाग गए थे। मानो आग लग गई थी इलाके में। घरे–घर छावन, जलावन और लाठा जमा हो गया था। कईयों ने तो 'गोड़ा धान' (टांड जमीन में बोया जाने वाला धान जो कम पानी में भी उपजता है) भी छींट दिया गया था– कोई 'रोके' खातिर सिपाही घुमता ही नहीं था। ठेकेदार का ट्रक भी नहीं जा सकता था लकड़ी काटने के नाम पर जंगल में। लकड़ी की चोरी बंद हो गयी थी, जो ट्रकों द्वारा सिपाही रेंजर करवाते थे।"[17] यह आदिवासियों के विद्रोह और असंतोष की भावना ही है कि

---

15 मौसी–रमणिका गुप्ता,पृ.14.

16 मौसी–रमणिका गुप्ता,पृ.14–15.

17 मौसी–रमणिका गुप्ता,पृ.40.

"हजारीबाग में रेणुका जी ने जो आदिवासी सम्मेलन किया, इतने होड़ (आदिवासी मरदों को होड़ कहते हैं) जुटे थे उसमें... सब तीर–बीजर से लैस। उसी सम्मेलन में जंगल की लड़ाई का फैसला लिया गया था। गिरीडीह भी तब इसी जिले में था। हफ्ते के दिन के हिसाब से गांव–गांव बांट दिए थे, जेल जाने के लिए एक ही गाड़ी थी, रेणुका जी के पास। पैदल था मोटरसाइकिल से लोग जाते पूरा घाटो हांड का मजदूर चाहे वह किसी राज्य या जिले का रहने वाला हो. जंगल की इस लड़ाई में उनके साथ खड़ा था। तन–मन–धन तीनों साथ लेकर फैल गए थे। घाटो के मजदूर गांव–गांव में, जंगल के संघर्ष का बिगुल फूंकने "[18] इस लड़ाई के परिणामस्वरूप रेणुकाजी ने "आठ हजार एकड़ जमीन आदिवासियों–मूलवसियों को डिमार्केशन से बाहर निकलवा दी। जिस जंगल में लकड़ी के कूप नहीं बने थे, वहां सरकार ने डिपो खोल दिये और सस्ते दामों में लाठा उपलब्ध करवाया। संगठन कमजोर हो गया तो फिर कड़ाई बढ़ गई।"[19]

यह सर्वविदित है कि राजनीति में आज का दुश्मन कल का दोस्त, कल का दोस्त आज का दुश्मन भी बन सकता है। क्योंकि जब कभी नेताओं का स्वार्थ टकराएगा इस प्रकार की स्थिति अवश्य उत्पन्न होगी। लेकिन यह भी सच है कि "जो बहुमत के स्वार्थ को, एक साथ जुटाकर मुद्दा बना ले, वही जन–नेता होता है। जो व्यक्तियों के सवालों में उलझ जाय, वह धंधा करनेवाला व्यापारी नेता हो जाता है। कभी–कभी व्यक्ति भी समूह का प्रतीक हो जाता है। यह तो नेतृत्व पर है, कैसे व्यक्ति के हित को समूह का हित बना दे इसमें नेताजी माहिर थे पर बाकी लोग नहीं। ऐसे कामों में साहस, खतरा मोल लेने की क्षमता, आत्मविश्वास चाहिए, जो नेताजी में था, तभी तो इतने बड़े विस्थापितों का आंदोलन के समय और ठेकेदारों की लड़ाई के समय नेताजी हरदम जोखिम उठाकर रेणुकाजी के

---

18 मौसी–रमणिका गुप्ता,पृ.42–43.

19 मौसी–रमणिका गुप्ता,पृ.43.

साथ रहे।"[20] विस्थापन और निर्वासित जीवन बिताने को मजबूर आदिवासी आज सोचने को विवश हैं "क्यों अजनबी लोग आए? हम राजा थे, प्रजा हो गए। प्रजा थे, दास हो गए। कर्जदार नहीं थे, कर्जदार बन गए। हाय! अजनबी आदमी ने हमें दास बनाकर, हमारे हाथ–पांव बांधकर डाल दिए। उसने हमें हरवाहा, माहीदार नाम दिया, हाली नाम दिया, कामिया नाम दिया। हमारा देश आंधी में धूल की तरह उड़ गया, हमारी जमीन चली गयी, घरचला गया, सब गया। जो अजनबी आदमी आया था वह तो आदमी नहीं था। हाय! हाय! हम ऊँचे पहाड़ों पर चढ़कर घर बनाते हैं, जंगल गायब हो जाता है, सड़क हमारी पीछा करती हुई वहां जाती है। जंगल गायब हो जाता है, अजनबी आकर सब कुछ अपवित्र कर देते हैं। हमारे पुरखों की समाधियां थी उन्हें पैरों से कुचलकर, चूर–चूर मार करके वहां रास्ता, मकान, स्कूल, अस्पताल बना दिया। हाय! हाय! यह सब हमें नहीं चहिए था। हमारे लिए तो यह सब हुआ भी नहीं था।"[21] आदिवासियों के प्रति भेदभाव पूर्ण भावना ने उनको समाज से अलग ही किया। आज भी आदिवासी क्षेत्रों में कार्य कर रही सरकारी कर्मचारियों की बेरूखी को देखा जा सकता है। जिससे आदिवासियों को अच्छी शिक्षा और मुख्यधारा से जोड़ने का प्रयास करना था वही इन लोगों को जोड़ना तो दूर अपने नजदीक लाना भी मुनासिब नहीं समझा। जिससे आदिवासियों के मन में अलगाववाद की भावना पनपती है। उत्तरपूर्व से लेकर संपूर्ण भारतवर्ष के आदिवासियों के साथ कमोबेश एक ही जैसा व्यवहार किया जाता है। जब विकासवादी तंत्र ही शोषणकारी तंत्र का कार्य करने लगे तो फिर बेचारे इन सीधे–सादे आदिवासियों का क्या होगा। इसी निराशा और हताशा के कारण ही शंकर बी.डी.ओ. साहब से कहता है "मैंने तुमसे कितनी विनती करके कहा था कि तुम हमारे लिए कुछ नहीं कर सकते। तुम हमारे जीवन में घुस आए हो, इसलिए हम अपवित्र हो गए हैं। हमें और सड़क नहीं चाहिए,

---

20 मौसी–रमणिका गुप्ता,पृ.55.

21 टेरोडैक्टिल –महाश्वेता देवी,पृ.36–37.

रिलीफ नहीं चाहिए – देश, घर, खेत, शमशान – सब कुछ जिनका चला गया है। उनको बदले में तुम क्या दे सकते हो?"[22] अतः देखा जा सकता है कि जितना भी विकास पूर्ण कार्य हुआ है, उससे आदिवासियों को लाभ कम और हानि अधिक हुआ है।

हिंदी और बंगला उपन्यासों के तुलनात्मक अध्ययन से प्रतीत होता है कि बंगला उपन्यास में जहां आदिवासियों का नेतृत्व आदिवासी करता है। वहीं हिंदी उपन्यास की सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि यहां आदिवासियों का नेतृत्व लेखक स्वयं या कोई और करता है। यह एक विचारणीय विषय है। इसके माध्यम से हिंदी लेखक की मानसिकता का भी अंदाजा लगाया जा सकता है। यह आदिवासियों के प्रति हिंदी लेखकों की वफादारी पर संदेह पैदा करता है। इसके साथ ही जब कभी वे आदिवासियों पर लिखते हैं तो लगता है कि आदिवासियों पर एहसान कर रहे हों।

(ख) जन–आंदोलन का उभार :

स्वाधीनता आंदोलन और ग्रामीण राजनीति की पृष्ठभूमि पर लिखी गई उपन्यास 'मैला आंचल' भारतीय समाज व्यवस्था का एक दर्पण कहा जा सकता है। इसमें जहां एक ओर भारतीय स्वाधीनता आंदोलन की आबोहवा पूरे वातावरण को गर्म किए हुए है, वहीं दूसरी ओर पूर्णिया के एक ग्राम मेरीगंज में भारतीय राजनीति के प्रतिरूप को देखा जा सकता है। रेणुजी ने स्वाधीनता आंदोलन की परिणति 'स्वराज प्राप्ति' का जितना सुंदर वर्णन किया है उतना ही सुंदर वर्णन ग्रामीण राजनीति और छल–प्रपंच के परिणाम स्वरूप उत्पन्न कानूनी मुकदमा की जीत रूपी सुराज का किया है। जैसा कि, "मुकदमा में भी सुराज मिल गया। सभी संथालों को दामुल हौज (आजीवन कारावास) हो गया। धूमधाम से सेसन केस चला। संथालों की ओर से पटना से बलिस्टर आया था। बालिस्टर का खर्चा

---

[22] टेरोडैक्टिल –महाश्वेता देवी, पृ.37.

संथालिनों ने गहना बेचकर दिया था। बलिस्टर पर भी बलिस्टर है। यदि इस मुकदमा में तहसीलदार साहेब जैसे कानूनची आदमी नहीं लगते तो इस खूनी केस से शिवशंक्कर सिंह, रामकिरपाल सिंह, और खेलावन सिंह तो हरगिज नहीं छूटते।"[23] रेणु जी ने इस उपन्यास में जनआंदोलन के दोहरे चरित्र को बखूबी उकेरा है। जहां एक ओर स्वाधीन भारत की कल्पना से सारा प्रदेश सराबोर है वहीं दूसरी ओर उसके पड़ोस में संथालों का इस प्रकार दमन करना कहां तक न्यायोचित कहा जा सकता है। लेखक ने हमेशा अपनी निष्पक्षता को बनाए रखने का प्रयास किया है। निष्पक्षता की इस तराजू को समान रखने के लिए डाक्टर के माध्यम से संथालों के अधिकारों की बात करते हैं। डॉक्टर की निष्पक्षतापूर्ण सुझाव के कारण संथाल उन्हें अपना हितैषी मानते हैं और उनकी बातों को मानते भी हैं। हम सभी जानते हैं कि गलत कामों को प्रायः अंधकार यानी रातों में ही अंजाम दिया जाता है। यह रात और अंधकार अज्ञानता और अविवेकपूर्ण कार्यों का प्रतीक माना जाता है। मेरी गंज में दो–दो उत्सव होने हैं, लकिन दोनों उत्सव को मनाने के समय में अंतर है। जैसा कि तहसीलदार साहब के कथन से भी ज्ञात होता है कि, "मुकदमा उतसव भी सुराज उतसव के दिन होगा ? ....हाँ ,सुराज उतसव दिन में, मुकदमा उतसव रात में।"[24] इसके माध्यम से रेणु जी ने उत्सव की विभिन्नता को उद्घाटित करने का प्रयास किया है।

स्वाधीनता आंदोलन में पूर्णियां के संथालों का कितना योगदान है यह कहना तो मुश्किल है। लेकिन संथाल परंगना के संथालों का भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में असीम योगदान रहा है। इतिहास इसका गवाह है। 1857 ई. के पहले का स्वतंत्रता संग्राम हो या फिर उसके बाद से लेकर 1947 के स्वाधीनता आंदोलन, दोनों ही स्थितियों में संथालों की अच्छी भागीदारी रही है। "तिलका मांझी ने लगभग 31 वर्ष की उम्र (1781 ई.) में ब्रिटिश सत्ता से लोहा लिया था।

---

23 मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु, पृ.219.

24 मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु, पृ.220.

एक तरफ तीर–धनुष, दूसरी ओर तोप–बंदूक। फिर भी तिलका मांझी ने मुकाबला किया और अंततः स्वतंत्रता की बेदी पर अपना आहूति चढ़ायी।"[25] इस आंदोलन में केवल तिलका मांझी अकेले ही शहीद नहीं हुए। इसके साथ तिलका मांझी के चार भाई और उनकी पत्नी भी अंग्रेजी फौज से जूझते हुए शहीद हुए थे। यदि इनके पारिवारिक स्थिति को देखें तो पाते हैं कि तिलका मांझी किसी जमींदार के परिवार से संबंध नहीं रखते थे, न ही इनके व्यक्तिगत स्वाभिमान को अंग्रेजों ने ठेस पहुंचाया था। लेकिन समाज और क्षेत्रों में अंग्रेजों एवं उनके दलालों द्वारा जनसाधारण को लूटते हुए उनसे नहीं देखा गया। यही कारण है कि उन्होंने "एक छोटे से गांव, बनैया–रीजोर से 1781 ई. में उस वीर आदिवासी ने विद्रोह शुरु किया, और मुक्ति आंदोलन को बढ़ाया। बनैयारीजोर से विद्रोह की चिनगारी जलाकर पूरे संथाल परगना, भागलपुर तक के बड़े भू–भाग को ही नहीं पूरे देश को विदेशी शासन से मुक्त कराने के अभियान दीप को प्रज्जवलित किया था। ... इस स्वातंत्र्य युद्ध में 388 व्यक्ति शहीद हुए थे और तिलका बांझी के तीर से ब्रिटिश सत्ता के मशहूर व्यक्ति अगस्टस क्लीवलैण्ड मारा गया था।"[26] हम सभी जानते हैं कि ब्रिटिश कूटनीति से पूरी दुनिया में अपना उपनिवेश बसा चुक थे। जहां–कहीं भी उन्हें व्यापारिक लाभ की संभावना दिखती वहीं अपना उपनिवेश बनाते थे या बसाने का प्रयास करते थे। इसी के परिणामस्वरूप ब्रिटिशों ने पूरे भारत पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था। राजमहल जैसी जंगल और पहाड़ी तराई भी उनके शोषण से अछूता नहीं रहा। जैसा कि '1774 से 1778 तक कैप्टन जेम्स ब्राउन जंगल–तराई का सैनिक गवर्नर रहा। अम्बर और सुल्तानाबाद की पहाड़ियों में हमेशा लड़ाई होती रही। जेम्स ब्राउन ने पहाड़िया लोगों पर शासन करने की योजना बनाई। इस योजना को क्लीवलैण्ड ने 1776 में पूरा किया। क्लीवलैण्ड राजमहल का मजिस्ट्रेट था, बाद में वह भागलपुर स्थानांतरित

---

25 स्वतंत्रता सेनानी वीर आदिवासी–शिवतोष दास,पृ.25.

26 स्वतंत्रता सेनानी वीर आदिवासी–शिवतोष दास,पृ.25–26.

किया गया।"[27] क्लीवलैण्ड कूटनीतिक विशेषज्ञता के धनी थे। जिसके सामने बड़े–बड़े महारथी धाराशायी हो जाते थे। उनकी इसी प्रतिभा को देखते हुए भागलपुर भेजा गया था। उन्होंने भागलपुर में अपनी इस विधा का भरपूर उपयोग किया। जैसा कि इनकी क्रिया–कलापों से ही ज्ञात होता है। "क्लीवलैण्ड ने अपनी दूरदर्शिता और चालाकी से पहाड़िया लोगों का विश्वास प्राप्त कर लिया। चूंकि पहाड़िया लोगों को मुगल–मुस्लिम जमींदारों, शासकों से शुरु से ही अनबन रही थी, अंग्रेजों ने भी इन्हीं से मुगल कालीन मुस्लिम शासकों को दबवाने की नीति अपनाई।"[28] इस प्रकार देखा जा सकता है कि अंग्रेजों की 'फूट डालो' और शासन करो की नीति उनके रग–रग में बसा हुआ था। एक–दूसरे को लड़ाकर शासन करना या एक–दूसरे के मध्य सुषुप्त विद्वेष को भड़काना, यह उनकी मुख्य प्रवृत्तियों में से थी। अतः कहा जा सकता है कि उनका एक ही उद्देश्य होता था, सत्ता हथियाना, जिससे भारतीयों का आर्थिक शोषण किया जा सके।

हम सभी जानते हैं कि पहाड़ी क्षेत्रो में प्रायः पहाड़िया जातियों का वर्चस्व हुआ करता था। उन क्षेत्रों मे किसी औरों का घुसपैठ उन्हें एकदम पसंद नहीं था। ऐसी स्थिति में अंग्रेजों के लिए भी आसान कार्य नहीं था। अतः सर्वप्रथम "पहाड़िया क्षेत्र में संथालों को बसाने का काम अंग्रजों ने ही किया, उन्हें शह और मदद देकर प्रारंभ में पहाड़िया और संथालों में खूब लड़ाई लगवाई। शुरु में 'दामिन–ए–कोह' इलाके में संथालों को प्रवेश ही नहीं होने देते थे, पहाड़िया सरदार! इस समय तक पहाड़िया क्षेत्र में काफी संथाल बस गए थे।"[29] जिससे उनका सामाजिक जीवन अब सामान्य हो चुका था। इसके साथ ही अब संथालों को समझ में आने लगा था कि अंग्रेज उन्हें अपनी स्वार्थ पूर्ति हेतु उपयोग कर रही हैं, फिर क्या था? संथाल लड़ाकू जाति तो थी ही। इन लोगों ने अब अंग्रेजों

---

27 स्वतंत्रता सेनानी वीर आदिवासी–शिवतोष दास,पृ.26–27.

28 स्वतंत्रता सेनानी वीर आदिवासी–शिवतोष दास,पृ.27.

29 स्वतंत्रता सेनानी वीर आदिवासी–शिवतोष दास,पृ.27.

के खिलाफ लामबंद होना प्रारंभ कर दिया। देखा जा सकता है कि "संथाल स्वयं स्वतंत्रता प्रेमी जाति रही है। अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करना कोई इनसे सीखे। धीरे–धीरे संथाल भी जान गए कि अंग्रेजी कंपनी के शासक अपने शक्ति–विस्तार के लिए हमें आपस में लड़ा देते हैं और अपना उल्लू सीधा करते हैं। एक को बढ़ाने का लालच देकर दूसरे को पराजित कर देते। यह जानकर संथाल चौकस–सावधान हो गए।"[30] लेकिन तब–तब अंग्रेजों ने अपने पीठ्ठुओं को उन जगहों में बसाना भी प्रारंभ कर दिया था। कालांतर में यही पीठ्ठू उन क्षेत्रों में 'दीकू' नाम से जाना जाता है। इन्हीं दिकुओं के माध्यम से अब इन आदिवासियों का शोषण प्रारंभ हो गया था। इन शोषणकारी प्रवृतियों ने पूरे क्षेत्र को अपने शिकंजा में ले लिया। जैसा कि "जंगल–तराई में धीरे–धीरे ब्रिटीश शासकों का शोषण प्रारंभ हो गया था। इन क्षेत्रों में हिंदू और मुस्लिम ब्रिटीश शासकों की नियति को समझते थे, परंतु कुछ कर पाने की शक्ति उनमें नहीं थी। उन्हें एक नेता की तलाश थी। ऐसी स्थिति में तिलका मांझी उस क्षेत्र में जैसे त्राता के रूप में अवतरित हुए। 11 फरवरी 1750 को सुल्तानगंज थाना के अंतर्गत तिलकपुर गांव में एक संथाल परिवार में तिलका मांझी का जन्म हुआ था। तिलका मांझी बड़े दूरदर्शी थे। जवान होते ही उन्होंने स्थिति को पढ़ लिया और ब्रिटीश हुकुमत को नाको चना चबवाने की ठान ली। वे अपनी धुन के पक्के और मजबूत इरादों वाले थे। कहते हैं उन्होंने असाधारण शारीरिक शक्ति पाई थी, बड़ी सूझबूझ वाले व्यक्ति थे। आध्यात्मिक शक्ति उन्हें जैसे 'ठाकुर' (ईश्वर) से मिली थी। सभी लोगों को वह समान समझते थे। उन्होंने सबसे पहले संगठित करने का काम प्रारंभ किया। उस इलाके की सभी जातियों, वर्गों, और धर्मों के लोगों के बीच वे श्रद्धा और विश्वास के पात्र बन गए थे।"[31] इस प्रकार देखते हैं कि तिलका मांझी के नेतृत्व में क्षेत्र के हिंदू और मुस्लिम संगठित होने लगे थे। इन्होंने संगठित होने के

---

30 स्वतंत्रता सेनानी वीर आदिवासी–शिवतोष दास,पृ.27.

31 स्वतंत्रता सेनानी वीर आदिवासी–शिवतोष दास,पृ.27.

बाद पूंजीवादी ब्रिटीश शासकों से लोहा लेने की ठानी। उनका विश्वास था कि ये शासक जब–तब हमारी धरती पर रहेंगे। हमारा ही शोषण करते रहेंगे। इसलिए "तिलका मांझी ने मारगो ढर्रे, तेलिमागड़ी दर्रे और कहलगांव में गंगा के किनारे अंग्रजों का खजाना लूटकर बिना किसी भेदभाव के गरीबों के बीच बांट दिया करते थे। शोषण, उत्पीड़न की शिकार गरीब जनता तिलका मांझी को दाता मानने लगे और उनके पास जत्थे के जत्थे वनवासी जुटने लगे। तिलका मांझी ने ब्रिटीश सत्ता और सामंतवादी प्रथा को समूल नष्ट करने का दृढ़व्रत लिया। वे थे ही दृढ़व्रती। अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए अपनी जान हथेली पर रखकर विद्रोह करने लगे।"[32] प्रारंभ में हर युद्ध में तिलका मांझी को विजय मिलती रही। जिसके कारण हर लड़ाई को दुगुने उत्साह से लड़ते रहे। उनके पीछे जनसाधारण की फौजें उन्हें उत्साहवर्द्धन करती रही। इसी सहयोग और हिम्मत के कारण ही उन्होंने "1784 में भागलपुर पर आक्रमण कर दिया। 1784 ई. की 13 जनवरी को तिलका मांझी ने एक ताड़ के पेड़ पर चढ़कर घोड़े पर सवार होकर जा रहे क्लीवलैंड की छाती में तीर मार दिया। जिससे अंग्रेज़ी सेना में एक झटके से आतंक फैल गया।"[33] इस आतंक को तिलका मांझी की सेनाओं के समझा कि अब अंग्रेजों की हिम्मत टूट गई। अपनी इस महान जीत की खुशी में विजय का जश्न मनाया जाने लगा। उसी रात बौखलाई अंग्रेजी सेना ने अंधेरे का फायदा उठाते हुए 'सर आयरकूट' और पहाड़िया सेनापति 'जाउराह' ने धावा बोल दिया। जिसके कारण तिलका मांझी के बहुत लोग मारे गए और बहुत से लोग गिरफ्तार कर लिए गए। लेकिन तिलका मांझी उनकी पकड़ से बाहर रहे। उन्होंने सुल्तानगंज की पहाड़ियों में शरण ली और आगे की योजना बनाते रहे। महीनों अंग्रेजों और पहाड़ियों की सेना से लड़ते रहे। इस गुरिल्ला–युद्ध से ब्रिटीश सेनाओं की परेशानियां बढ़ा दीं। गुस्सा से बौखलाए अंग्रेजों ने तिलका मांझी को परास्त करने

---

32 स्वतंत्रता सेनानी वीर आदिवासी–शिवतोष दास,पृ.28.

33 स्वतंत्रता सेनानी वीर आदिवासी–शिवतोष दास,पृ.28.

के लिए युक्तियां सोचने लगी। अंततः अंग्रेजों ने पहाड़ों को घेर लिया और उनकी राशन पानी की आपूर्ति पूर्ण रूपेण बंद कर दिया। जिससे "तिलका मांझी की सेना परेशान हो गई और विवश होकर पहाड़ों से निकल कर तिलका मांझी को गुरिल्ला–युद्ध की बजाय सामने डटकर लड़ना पड़ा। लड़ाई चल ही रही थी कि धोखे से तिलका मांझी पकड़े गए। उस परमवीर स्वतंत्रता सेनानी को चार घोड़ों से बांध दिया गया और घोड़ों को दौड़ाकर भागलपुर में घसीटा गया। इतने पर भी तिलक मांझी जीवित रहे थे अंग्रेजों ने बड़ी बेरहमी से उन्हें एक बरगद के पेड़ पर फांसी पर लटका दिया। वीर तिलका मांझी बिना उफ् किए फांसी पर झूल गए। फिर उन्हें पेड़ से बांधकर उनके सीने में कील ठोंक दी गयी। इस तरह बाबा तिलका मांझी ने अपनी कुर्बानी दी।"[34] इस प्रकार की निर्मर्मता पूर्ण हत्या अन्यत्र कम ही दिखाई पड़ती है। निस्वार्थ भावना से परिपूर्ण देश और क्षेत्र की जन–साधारण की दुखः दर्द के संहारक के रूप में अवतरित होने के कारण उन्हें बाबा की उपाधि से अलंकृत किया गया। उनकी अन्यत्तम योगदान के कारण स्वातंत्र्योत्तर भारत ने "प्रथम स्वतंत्रता सेनानी की स्मृति में जिस चौक पर उन्होंने शहादत पायी थी, भागलपुर में उस चौक का नाम 'तिलका मांझी चौक' रखा गया और उस जगह पर उनकी प्रतिमा भी स्थापित की गई है।"[35] अतः कहा जा सकता है कि बाबा तिलका मांझी का योगदान अविस्मरणीय है। यही कारण है कि कालांतर में भागलपुर विश्वविद्यालय का नामकरण भी 'बाबा तिलका मांझी विश्वविद्यालय', भागलपुर किया गया। इस प्रकार संथालों का अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह यहीं समाप्त नहीं होता है।

1855–56 का संथाल विद्रोह विश्व के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह विद्रोह 'वर्द्धमान से लेकर भागलपुर के विस्तृत क्षेत्र में फैल गया था। इस विद्रोह के नेता सिद्धो–कान्हु, चांद और भैरव थे। ये चारों सहोदर भाई थे तथा

---

34 स्वतंत्रता सेनानी वीर आदिवासी–शिवतोष दास,पृ.28–29.

35 स्वतंत्रता सेनानी वीर आदिवासी–शिवतोष दास,पृ.29.

संथाल परगना जिलान्तर्गत राजमहल सबडिवीजन के दामीन इलाकों के मध्य बरहाइट के समीप ग्राम भगनीडीह के निवासी थे।... इसे दबाने में कंपनी सरकार को अत्यधिक श्रम करना पड़ा था।"[36] इस प्रकार देखते हैं कि संथाल विद्रोह में जनआंदोलन का उभार आधुनिक बिहार और बंगाल के कई क्षेत्रों में सिद्धू–कान्हू के नेतृत्व में फैल गया था। यह युद्ध केवल शोषण के खिलाफ नहीं था। अंग्रेजी शासक से आर्थिक शोषण के साथ–साथ धार्मिक और सांस्कृतिक अस्तित्व को भी खतरा हो गया था। इसलिए यह आंदोलन और भी विकराल रूप ले लिया था। हम सभी जानते हैं कि अपनी राष्ट्रीयता, संस्कृति और आस्था को विदेशी विधर्मियों के पंजों से बचाने के लिए आदिवासियों के मध्य आरंभ हुआ युद्ध आज भी देखा जा सकता है। लेकिन अब विदेशी से नहीं बल्कि देशी विधर्मी से लड़ना पड़ रहा है। 18वीं – 19वीं शती में आदिवासियों को अंग्रेजी क्रूरता का शिकार होना पड़ा। विद्वानों का विचार है कि "अंग्रेजी शासन से मुक्ति पाने के लिए संथाल का विचार है कि संथाल लोगों को स्वाधीनता की पहली लड़ाई में अंग्रेजों का हाथ ऊपर तो रहा किंतु प्रकटतः इस जाति को खुश करने के लिए इस जिले का नाम 'संथाल परगना' कर दिया गया। परंतु इसके बाद से ही अंग्रेजी शासन ने संथाल लोगों की धार्मिक–सांस्कृतिक मान्यताओं पर विजय पाने के लिए विदेशी ईसाई मिशनरियों को इन लोगों के बीच जमने और उन्हें इसाई बनाने की मात्र अनुमति ही नहीं दी, बल्कि उन्हें प्रोत्साहित भी किया। फलस्वरूप कुछ ही दिनों में इस जिले के बहुत से संथाल परिवार ईसाई होने लगे और उनमें अपने परंपरात देवी–देवताओं, पर्व–त्यौहारों, रीति–रिवाजों आदि के प्रति तिरस्कार की भावनाएं पनपने लगीं।"[37] इस प्रकार हम देखते हैं कि अंग्रेजों ने अपनी शासन–व्यवस्था को स्थापित करने के लिए तरह–तरह के तकनीक अपनाई। जिसका अंग्रेजी पिठ्ठुओं

---

36 बिहार में स्वातंत्रता आन्दोलन का इतिहास भाग –1,पृ.06.

37 स्वतंत्रता सेनानी वीर आदिवासी–शिवतोष दास,पृ.62.

ने उनके लिए गुप्तचर का कार्य आरंभ कर दिया। जिसके कारण संथाल विद्रोह को कमजोर करने में कुछ हद तक सफलता मिली।

अंग्रेजों द्वारा उत्पन्न की गई विकट परिस्थितियों के बावजूद भगीरथ बाबा ने आदिवासियों को आध्यात्म के बल पर एक जुट करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। श्री ओमली आई.सी.एस. लिखित जिला गजेटियर (संथाल परगना) के अनुसार "1871 ई. में गोड्डा अनुमंडल स्थित तरडीहा गांव में 'भगीरथ बाबा' (भगीरथ हांसदाक) नामक एक गुरु का उदय हुआ। कहते हैं कि उन्हें कुछ दैवीय शक्ति प्राप्त थी।... अपनी साधना के बाल पर सामान्य रोगों, प्रेत–बाधा से छुटकारा दिलाने में भी वे समर्थ माने जाते थे। परिणामतः उनके यहां बड़ी संख्या में लोगों का जमघट लगना शुरु हो गया।"[38] उनका जनसाधारण हेतु संदेश था कि 'ठाकुर' सिद्धो–कान्हु के समय में ही संथाल लोगों को अंग्रेजी शासन से मुक्त करना चाहते थे। परंतु पाप कर्म के चलते वह संभव नहीं हुआ। अतः उनका विचार था कि पाप–कर्म से मुक्त होकर शुद्ध मन से 'ठाकुर' का स्मरण और पूजा–अर्चना करने तथा आपस का संगठन मजबूत करने पर ही 'ठाकुर' प्रसन्न होंगे और तभी हम अंग्रेजी शासन से मुक्त हो पाएंगे। इस प्रकार दुःख संकटों से छुटकारा पाने के लिए उन्होंने ठाकुर पर भरोसा रखने और श्रद्धाचरण पर दृढ़ रहने पर बल दिया। इस तरह भगीरथ बाबा की प्रसिद्धि को देखकर अंग्रेजों को रहा नहीं गया और ब्रिटिश सरकार ने अंततः उन्हें गिरफ्तार करवाकर कैद में डाल दिया, जहां पर उनकी मृत्यु हो गई।

इसके साथ ही महात्मा गांधी के नेतृत्व में लड़ा गया स्वाधीनता आंदोलन में भी संथालों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। सन् 1930 के सविनय अवज्ञा आंदोलन को संथालों के मध्य लोकप्रिय होते देख अंग्रेजों में भय और आतंक का माहौल व्याप्त था। यही कारण था कि दुमका उपायुक्त ने अनुमण्डलाधिकारियों

---

38 स्वतंत्रता सेनानी वीर आदिवासी–शिवतोष दास,पृ.63.

को "17 अक्टूबर 1930 को अपने पत्र में लिखा कि आदिवासी लोगों के मध्य ऐसी कार्रवाईयों को कठोरता के साथ दबा देना होगा।"[39] इस कठोरता के बावजूद आदिवासियों के उत्साह में कोई कमी नहीं आई। देश–भक्ति की भावना से ओत–प्रोत इन आदिवासियों ने कांग्रेस के सभी आंदोलनों में भाग लिया। जिसके कारण "29 अक्टूबर को राजौन हाट में संथालों और पुलिस के बीच एक गंभीर झड़प हो गई। यह स्थान गोड्डा से 3 मील की दूरी पर है, उस दिन बिसहा पहाड़ी के समीप लगभग 3–4 हजार संथाल खादी के सवाल पर बातें करने को एकत्र हुए थे। उसी रात लगभग 3 बजे 5 संथालों को गिरफ्तार किया गया। दूसरे दिन उन्हें 5 से 18 महीनों की कैद की सजा सुनाई गई।"[40] इन कठोरताओं के बावजूद सभा और सम्मेलनों में कमी नहीं आई। कुछ दिनों के बाद "जब संथालों ने 6 नवंबर को सभा करने की कोशिश की तो कुछ सैनिक एवं सिपाहियों के साथ आरक्षी अधीक्षक ने लाठी से प्रहार करके उन्हें तितर–बितर करना चाहा... संथालों ने उन पर पत्थर और ढेले चलाए जिससे कुछ पुलिस के जवानों को चोटें आईं, 57 लोगों को गिरफ्तार कर लिया गया।"[41] इस प्रकार की दमनकारी नीति से इन आदिवासियों में थोड़ा भी प्रभाव नहीं पड़ा और गांधी के नेतृत्व में होनेवाले आंदोलन का हमेशा साथ दिया।

इन आदिवासियों में गांधीजी की लोकप्रियता का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि "महात्मा गांधी इन संथालों के बीच 'गांधी बाबा' के नाम से विख्यात थे ...कहना न होगा कि 'गांधी बाबा' के नेतृत्व में चलने वाला उस राष्ट्रीय आंदोलन में 'साफा होड़' (सुधारवादी संथाल) लोगों का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। ब्रिटिश सरकार की मार खाना, जेल जाना, कष्ट झेलना आदि का सामना इन्होंने सत्य–अहिंसा के अस्त्र से करना सीखा था। यहां तक कि श्री मोतीलाल

---

39 बिहार में स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास भाग –2 ,पृ.128.

40 बिहार में स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास भाग –2 ,पृ.128..

41 बिहार में स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास भाग –2 ,पृ.128.

केसरीवाल लिखित 'सन 42 की क्रांति में संथाल परगना' नामक पुस्तक के आधार पर राष्ट्रीय आंदोलन में इस जिले के जिन 76 व्यक्तियों ने अपने प्राणोत्सर्ग किए हैं, उनमें से कम से कम 25 'साफ़ाहोड़' ही थे।"[42] अतः कहा जा सकता है कि आदिवासी संथालों का स्वाधीनता आंदोलन में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। ऐसे में कौन अपनी जाति और संप्रदाय के लोगों के योगदान से खुश नहीं होगा। यही कारण है कि "संथाल लोग इस सुराज उत्सव में नाचेंगे..... कहीं नाचने के समय तीर चला दें, तब? नहीं, नहीं, डागडर साहेब बोलते थे कि संथालिनें खुद आकर कह गई हैं ... नाचबौ। तहसीलदार साहब को भी इसमें इतराज नहीं होना चाहिए।"[43] समुरितदास बेतार के इस वक्तव्य पर गौर से विचार करें तो विरोधाभास पाते हैं। जहां एक ओर संथालों ने वीर सेनानी के रूप में लड़ाई लड़ी है। वहीं दूसरी ओर गंवार और जंगली रूपों में दर्शाया गया है। लेकिन जो भी हो उनकी सादगी और ईमानदारी पर लोग बलिहारी हैं। इसीलिए यहां सुमरितदास कहता है, "भाई, जो भी कहो, संथाली नाच देखते समय होस गुम हो जाता है। जूड़े में सादे फूलों के गुच्छे, कसमकस देह, उजले दांत की पांती की चमक? सफेद आंचल! जब झुमुर–झुमुर कर नाचने लगती है तो मन करता है, नाच में उतर पड़े।"[44] सुर और ताल से शोभायमान सभा में सभी लोगों के मन प्रफुल्लित हो उठते हैं। लेकिन पूर्वाग्रह से ग्रसित व्यक्तियों को "मांदर और डिग्गा की बोली सुनकर डर लगता है। हंसेरी के दिन तो ऐसा लगता था कि जमराज नगाड़ा बजा रहा है और जमदूत सब उसी ताल पर नाचकर तीर चला रहे हैं।"[45] इस प्रकार का विचार आना स्वाभाविक है क्योंकि मांदर और नगाड़ा की ताल पर तहसीलदार की खेत की बीहन को लूटने का अद्‌भुत दृश्य अभी भी मनुष्य के

---

42 स्वतंत्रता सेनानी वीर आदिवासी–शिवतोष दास,पृ.65.

43 मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु, पृ.221.

44 मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु, पृ.221.

45 मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु, पृ.221.

मानस पटल पर अंकित है। इस तरह विकराल दृश्य को भूलने में सदियां लग जाती हैं।

जन आंदोलन के बावजूद गरीब आदिवासी और मजदूर वर्गों में कोई विशेष बदलाव नहीं आया है। यदि देखें तो पाते हैं कि "जिन–जिन कारणों से आंदोलन भड़का, वे कारण अभी मौजूद हैं। हर जन–आंदोलन के पीछे के उनके कारणों की विवरण–संख्या बाद के खोज करने वालों ने जमा की... क्षणिक होते हुए भी किन–किन कारणों से तृणभूमि में आग लगी, इस बारे मं अब मौन है। किंतु प्रशासन के मौन रहने से ही क्या सच्चाई समाप्त हो जाती है।"[46] कथाकार के मन में इस प्रकार का सवाल आना स्वाभाविक है। क्योंकि इस तरह की आंदोलन के बारे में तरह–तरह की बातें कही जाती हैं। साठ के दशक में गरीब–मजदूर आदिवासियों के शोषण के खिलाफ नक्सल आंदोलन हुए और आज भी यह निरंतर जारी है। कारण और परिणाम वहीं का वहीं पड़ा है। सरकार बदलती है, लोग–बदलते हैं लेकिन समस्या का निदान निकालने की पहेली को जैसा का तैसा छोड़ देते हैं।

आदिवासी समाज अपने अधिकारों की रक्षा के लिए कालांतर से संघर्षरत रहा है। जैसाकि विनोद कुमार के उपन्यास 'समर शेष है' में शिबू आदिवासियों को महाजनों के चंगुल से बचाने के लिए आह्वान करते हैं ''हमें अपनी जमीन महाजनों के कब्जे से मुक्त करनी है। हमें गाँव में बच्चे और बड़ों के लिए स्कूल और रात्रि–पाठशालाएँ शुरू करनी है। हमें गाँव वालों को शराब नहीं पीने देना है और जब तक सब काम नहीं पूरा हो जाता, तब तक टुंडी में प्रशासन और पुलिस के लोगों को घुसने नहीं देना है। इस कोर्ट–कचहरी, पुलिस और सरकार से हमें कोई मतलब नहीं। हम अपने जीवन में किसी बाहरी व्यक्ति को, सरकारी तन्त्र को

---

46 अग्निगर्भ–महाश्वेता देवी, पृ.09.

घुसने नहीं देंगे।''[47] इस तरह समय–समय पर जन–आंदोलन उभरा है। लेकिन जब कभी आदिवासियों के विस्थापन की समस्या आती है और आंदोलन को आगे बढ़ाने की बात होती है तो प्रायः उनके आंदोलनों को अन्य लोगों द्वारा 'हाईजेक' किया गया है। जिसके परिणामस्वरूप आदिवासियों की समस्याओं के वनिस्पत् नेतृत्वकर्ता का स्वार्थ हावी हो जाता है। जिससे आदिवासियों की मुख्य मांगे गुम हो जाती हैं। समाचार पत्र–पत्रिकाओं के द्वारा जोर–शोर से इसका प्रचार–प्रसार किया जाता है लेकिन अंततः आदिवासियों को कुछ नहीं मिलता है। आज के वर्तमान युग में देखा जाय तो पाते हैं कि आदिवासी समस्याओं को लेकर चलने वाला आंदोलन का नेतृत्व कोई आदिवासी क्यों नहीं कर रहा है? यह अति ज्वलंत बहस का विषय है। जैसाकि 8 नवंबर 2003 और 10 नवंबर 2003 को भारत की राजधानी दिल्ली के संसद मार्ग में संथाली भाषा को लेकर दो विशाल रैलियां की गई। लेकिन किसी भी पत्र–पत्रिका में इसको सिफ़र मात्र भी स्थान नहीं दिया गया। वहीं सवर्णों के छोटे–मोटे कार्यक्रम भी स्तरीय समाचार पत्र–पत्रिकाओं में छप जाता है। इस प्रकार का पक्षपातपूर्ण रवैया ब्राह्मणवादी मानसिकता को ही दर्शाता है। इसी तरह आदिवासी समस्या को लेकर आंदोलन आदिवासी नेतृत्वकर्ता के वनिस्पत गैर आदिवासी नेतृत्वकर्ता को ज्यादा महत्व दिया जाता है। इसके परिणामस्वरूप आदिवासियों को कुछ नहीं मिलता है, केवल वह चर्चा का विषय बना रहता है।

आदिवासी नेतृत्व में लड़ा गया आंदोलन हमेशा आदिवासियों के लिए लाभकर रहा है। उन्हें कुछ न कुछ अवश्य मिला है। जैसाकि 'तिलका मांझी' और 'सिद्धो कान्हू' के नेतृत्व में लड़ा गये आंदोलनों ने उन्हें स्वतंत्र संथाल परगना क्षेत्र दिलाया। जिसका शासक और कर्ता–धर्ता आदिवासी हुआ करता था। उनको संपूर्ण प्रशासनिक अधिकार दिया गया। उन्हें वित्तीय शक्तियां भी प्रदान की गई।

---

47 समर शेष है : विनोद कुमार, पृ0–258.

जिससे आदिवासियों की स्थिति सुधरने लगी। अंग्रेजों ने आदिवासी समाज और संस्कृति को बचाने और आगे बढ़ाने का इसे बेहतर तरीका समझा। इससे महाजनों द्वारा आदिवासियों का शोषण रूका। यह सच है कि आदिवासियों के मध्य अंग्रेजों ने अपना पैठ जमाना आरंभ किया। इसके साथ ही ईसाई धर्मों का प्रचार और प्रसार प्रारंभ हो गया। ईसाई धर्मों के प्रचार के बावजूद अंग्रेजों ने उनकी संस्कृति और सभ्यता को कम से कम प्रभावित करने का प्रयास किया। जिससे आदिवासी क्षेत्रों में ईसाई धर्म का प्रचार और प्रसार होता रहा, इसके साथ ही साथ शिक्षा का प्रसार करता रहा। इसके साथ ही अंग्रेजों ने अपने पिठ्ठुओं की संख्या बढ़ाती रही।

ईसाई मिशनरियों द्वारा शिक्षा के प्रचार और प्रसार ने आदिवासियों के विस्थापन के लिए उत्प्रेरक का काम किया। अंग्रेजों द्वारा धर्म प्रचार की उत्साह ने शिक्षित आदिवासियों के मध्य धर्म फैलाना प्रारंभ कर दिया, जिससे इन लोगों को बेहतर प्रशिक्षण की जरूरत पड़ी। जिसके कारण उन्हें अन्य प्रांतों और देशों में भी भेजा जाने लगा। इससे भी विस्थापन हुआ है, लेकिन इसमें बेहतर जिंदगी हेतु स्वीकार्यता पूर्ण विस्थापन है। इसमें दयनीयता नहीं है।

किंतु स्वातंत्र्योत्तर भारत में आदिवासियों का देशी अंग्रेजों द्वारा शोषण ने दुःख भरी विस्थापन के लिए विवश किया। यही कारण है कि आज भी आदिवासी और गैर आदिवासी जिसमें प्रायः महाजन होते थे, उनका विरोध आज भी जारी है। इस प्रकार के जन–आंदोलनों का अंत तभी संभव है जब आदिवासियों के मूल–समस्याओं का उचित और न्यायसंगत समाधान निकाला जाएगा। अन्यथा आने वाले समय में और भी भीषण रूप लेकर आएगा। जैसाकि धानी 'सिदू–कानू–हूल के समय वह जवान था। हूल से खारूआ के, खारुआ से मुल्की लड़ाई, मुल्की लड़ाई से उल–गुलान, एक विद्रोह से दूसरे विद्रोह पर

चलते–चलते, कुचला, विष खुरचते–खुरचते, 1915 में उसकी (धानी) उम्र इक्यासी हो गयी थी।"[48]

आदिवासी अनादिकाल से प्रकृति के गोद में रहा है। इसलिए उनका प्रकृति ही सब कुछ है। प्रकृति ने ही उन्हें अपने आंचल में जन्म दिया, उन्हें अपने कोमल फूलों और पत्रों के लत्तरों, सुरम्य स्थानों पर चलना सिखाया। उन्होंने खाने को फल और अन्न तथा कन्दमूल दिया। ऐसे में भला वह कैसे उनके प्रेम को भूल सकता है। कोई अपनी मां–बाप को भूल सकता है? कोई उनके दुख दर्द को देख सकता है, कतई नहीं। इसी प्रकार अच्छे बेटों की तरह धानी को जंगल का रोना सुनाई दे रहा है। धानी चोट्टि को बता रहा है। "जंगल रोता है, उससे कहता है, रिक्कू–मालिक साहब सबने मिलकर मुझे अशुच, नंगा, बिना कपड़ों का कर दिया है। बीत्सा, तू मुझे शुद्ध कर दे। चोट्टि, किरिया खा, तुझसे जितनी बातें कहीं हैं, किसी से नहीं कहेगा? चोट्टि कहता है, नहीं कहूंगा। तीर छूकर किरिया खाता हूं।"[49] इसके साथ ही धानी चोट्टि से प्रण करवाते हैं कि आने वाले समय ऐसा कुछ नहीं करेगा जिससे आंदोलन की अस्थिरता प्रदान करे। इसलिए धानी कहता है कि "यह निश्चय कर कि घाटों नहीं खाएंगे, महाजन–दिकू–पुलिस के जुलूम नहीं मानेंगे। आबादी जमीन और किराए पर उठायी खेती के गांव पर दखल करेंगे, जंगल का अधिकार लेने के लिए।"[50] इस प्रकार धानी उन सभी पदार्थों पर निबेध करता है, जिससे आंदोलन को कमजोर करती है।

अतः कहा जा सकता है कि जब कभी आदिवासियों के अधिकारों का हनन हुआ है। उन्होंने हमेशा आंदोलन किया है। पराधीन भारत से लेकर स्वातंत्र्योत्तर भारत में आज भी विभिन्न क्षेत्रों में अलग–अलग मांगों को लेकर आंदोलनरत हैं।

(ग) जागरूकता की राजनीतिक परिणति :

---

48 चोट्टि मुण्डा और उसका तीरः महाश्वेता देवी ,पृ. 22.

49 चोट्टि मुण्डा और उसका तीरः महाश्वेता देवी ,पृ. 22

50 चोट्टि मुण्डा और उसका तीरः महाश्वेता देवी ,पृ. 22

मानव सभ्यता के विकास के साथ राजनीति का भी विकास हुआ है। राजनीति समाज में रहने वाले मनुष्यों और समूहों के अंतःसंबंधों पर निर्भर करता है। चूंकि ये अंतःसंबंध संबंध सर्वत्र पाये जाते हैं, अतः राजनीति भी सभी जगह विद्यमान होती है। इसके साथ ही राजनीति भी सर्वत्र मिलती है। अतः यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि राजनीति मनुष्य के जीवन का अभिन्न अंग है। यह मानव जीवन के हर क्षेत्रों को प्रभावित करती है। ग्रामीण और उप नगरीय स्तर से लेकर राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तरों तक यह समस्याओं को उत्पन्न भी करती है तथा उनका समाधान भी, व्यक्तित्वों को बनाती भी है और बिगाड़ती भी, हमारे लिए शांति भी लाती है और संघर्ष भी, समृद्धि भी लाती है और विनाश भी। आज मानवीय प्रयास का शायद ही कोई ऐसा पक्ष हो जो राजनीति से अछूता हो, यही कारण है कि राजनीति में सदैव मनुष्य की दिलचस्पी रही है। "एक ब्रिटिश गृहिणी से जब पूछा गया कि जन--साधारण को राजनीति में रूचि रखनी चाहिए अथवा नहीं, तो उसने उत्तर दिया, बहुत अधिक तो नहीं ... हां, पर्याप्त रूचि रखनी चाहिए ... मैं समझती हूं कि प्रत्येक व्यक्ति को राजनीति में रूचि लेनी चाहिए, परंतु पागलपन की सीमा तक नहीं। रूचि लेना इसलिए आवश्यक है, क्योंकि इससे हमारा जीवन प्रभावित होता है।"[51] अतः इसकी आवश्यकता को सहज महसूस किया जा सकता है।

इसकी अनिवार्यता की महता पर प्रकाश डालते हुए राबर्ट ए. डाल ने लिखा है "भले ही कोई चाहे या न चाहे किंतु तथ्य यह है कि राजनीति के प्रभाव से कोई पूर्णतः मुक्त नहीं होता। प्रत्येक नागरिक को संयुक्त राष्ट्रसंघ से शिक्षक--अभिभावक संघ तक – देश, नगर, विद्यालय, गिरजाघर, व्यापारिक फर्म, कर्मिक संगठन, क्लब, राजनीतिक दल, सामाजिक संगठन एवं अनेक अन्य संस्थानों की व्यवस्था में राजनीति से वास्ता पड़ता है। राजनीति मानवीय अस्तित्व

---

51 मॉडर्न पोलिटिक्स एण्ड गवर्नमेंटः एलेन.आर.बाल. पृ. 20.देखें बैकुण्ठनाथ सिंहः राजनीति शास्त्र के सिद्धांत.

का अनिवार्य तथ्य है।"[52] इसी प्रकार मार्शल वर्मन का भी विचार है कि "आप कोई भी हों अथवा कुछ भी बनना चाहते हों, आपकी राजनीति में रूचि भले ही नहीं हो, राजनीति आप में रूचि अवश्य रखती है।"[53] इसका अनुभव आज आम जीवन में महसूस किया जा सकता है। गली मुहल्लों से लेकर मेट्रो पोलिटिन तक में देखा जा सकता है।

राजनीति में मनुष्य की रूचि कोई नयी बात नहीं है। यह सदैव विद्यमान रही है। "प्राचीन यूनान तथा रोम में नागरिक युद्ध के अलावा सबसे ज्यादा रूचि राजनीति में ही रखते थे। चूंकि युद्ध भी राजनीति का ही एक अंश है, इसलिए यह मानना पड़ेगा कि राजनीति उनके जीवन पर छायी हुई थी। प्राचीन यूनान में तो स्थिति यह थी कि जो राजनीति में रूचि नहीं लेता था, उसे जबड़बुद्धि वाला यानी मूर्ख समझा जाता था।"[54] मानवीय सभ्यता के विकास के साथ–साथ लोकतंत्र के प्रचार और प्रसार ने और ज्यादा लोगों को राजनीति की ओर प्रेरित किया है। अब राजनीति राजा–महाराजाओं के दरबार से निकलकर आम आदमी की दुनिया में छा गयी है। सरकार का स्वरूप चाहे जनतंत्रीय हो अथवा अधिनायक तंत्रीय, शासकों का प्रयास यही रहता है कि उन्हें व्यापक जन समर्थन प्राप्त हो। जब हम जनसमर्थन की बात करते हैं तो उसका स्पष्ट अर्थ यही होता है कि साधारण से साधारण आदमी भी राजनीति से अछूता नहीं रह सकता। यह संभव है कि सक्रिय राजनीति में कम लोग रहते हैं, जबकि निष्क्रिय भागीदार के रूप में हम सभी राजनीति से प्रेरित तथा प्रभावित हैं।

जैसाकि जब हम राशन और मिट्टी तेल की दुकानों पर लंबी लाइनों में खड़े होकर सरकार की आलोचना करते हैं, तब वे राजनीतिक चर्चा ही कर रहे होते हैं। मंहगाई, बेरोजगारी, भूख, गरीबी और भ्रष्टाचार आदि समस्याएं हमारे

---

52 एन.इन्ट्रोडक्शन टू कम्परेटिव गवर्नमेंट: रॉबर्टए.डाल. पृ.01.(वही) देखें बैकुण्ठनाथ सिंह: राजनीति शास्त्र के सिद्वांत.

53 द.पोलिटिक्स ऑफ अर्थेटिसीटी: मार्शल बर्मन. पृ. 235.(वही)

54 इन्ट्रोडक्शन टू पोलिटिकल साइंस: रोड,अंडरसन,किस्टल,ग्रीन. पृ.28..(वही)

सामने राजनीतिक प्रश्न ला खड़ा करती है। इस प्रकार राजनीति का क्षेत्र दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में ही जन्म लेता है और समाज में उसकी जीवन–लीला समाप्त होती है। समाज में रहते हुए वह अनेक प्रकार की क्रियाओं को करता है, जैसे आर्थिक क्रिया, सामाजिक क्रिया और राजनीतिक क्रिया आदि। राजनीति मनुष्य की राजनीअतक क्रिया से संबंधित है। इसका जन्म वहां होता है जहां दो या दो से अधिक व्यक्ति सम्मिलित रूप से किसी समस्या के प्रति जागरूक हो उठते हैं। इसके साथ ही समस्या का हल ढूंढ़ने का प्रयास करते हैं। ज्यों ही वे समस्या को सुलझाने के लिए आपसी सहयोग एवं संघर्ष का सहारा लेते हैं, राजनीति का जन्म हो जाता है। अतः यह मनुष्य की स्वाभाविक प्रक्रिया है। मैक्स वेबर के अनुसार 'राजनीति का अर्थ है, शक्ति के लिए संघर्ष अथवा उन लोगों को प्रभावित करने की कला जिनके हाथों में सत्ता है। परस्पर राज्यों के बीच चलने वाला संघर्ष तथा राज्य के भीतर विभिन्न संगठित समुदायों के बीच होने वाला संघर्ष दोनों ही राजनीति के अंदर आ जाते हैं।'

आदिवासी समाज आज इस प्रकार की राजनीति को समझने लगी है। इसके साथ ही अपने अधिकार को पहचानने के कारण इसकी मांग भी शुरु कर दी है। क्योंकि आदिवासियों में आज जागरूकता आ गई है। आज इनके मध्य शिक्षा का प्रचार और प्रसार हो रहा है। मुख्यधारा के लोगों की रहन–सहन और सुख–सुविधा को देखकर स्वयं भी हासिल करना चाहते हैं। आज ये संविधान के तहत समानता के अधिकार की मांग करने लगे हैं। जिससे उन्हें रोजगार के समान अवसर मिल सके। इसके लिए समय–समय पर लामबंध होकर अपनी मांग को सरकार से मनवाने हेतु दबाव समूह का भी निर्माण करने लगे हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि संथाली भाषा को संविधान की आठवीं सूची में शामिल किया

गया। अब ये लोग राजनीतिक दलों की कमजोरी को समझ गए हैं। कभी–कभी इन्हीं कमजोरी का लाभ उठाते हुए स्व–नेतृत्व की बात करने लगे हैं। यही कारण है कि आज सभी राजनीतिक दल आदिवासियों को समान नेतृत्व देने का भरपूर प्रयास कर रहे हैं, जिससे जातिगत या सामुदायिक संतुलन बनाए रखा जा सके।

हम सभी जानते हैं कि आदिवासी समाज प्रकृति प्रेमी रहा है। उनका पेड़–पौधा और जीव–जंतु से अटूट संबंध है। यही कारण है कि आज जितने भी जंगल हैं वह इन्हीं आदिवासी क्षेत्रों में हैं। लेकिन यह इन आदिवासियों का दुर्भाग्य ही है कि जंगलों में भी उन्हें आराम से नहीं रहने दिया जा रहा है। मुख्यधारा का समाज विज्ञान–प्रौद्योगिकी, जैव–विविधता, और पर्यावरण की रक्षा आदि बड़ी–बड़ी बातें तो करता है लेकिन व्यवहारिकता में देखा जाय तो यह वायदे मात्र ही रह जाती है। लेकिन पर्यावरण और जंगल के साथ संतुलन बनाते हुए जीवन का निर्वाह करने वाले आदिवासियों को आज यहां से विस्थापित किया जा रहा है। यह कैसी विडंबना है कि जो क्षेत्र हमेशा से शोषण और शोषकों से पीड़ित रहा है। लेकिन वहां के मूल निवासियों की भाषा में 'शोषण' शब्द ही नहीं है। यह सच है कि "हो भाषा में 'शोषण' का समानार्थक कोई शब्द नहीं है। इसके बाद कितनी ही बार गोलियां चलीं... इसके बाद इलियागढ़ में खड़काई बांध–संघर्ष में वीर कोल्हा, गंगाराम का लुंडिया मारा गया। गुया में निमर्मता से विदरनाग को मारा गया और पशुपति जा कों कहता है, 'दादा' शोषण शब्द तो 'हो' भाषा में है ही नहीं।"[55] यह आदिवासी क्षेत्र का शब्द (शोषण) या प्रवृति (शोषण) भी नहीं रहा है। जैसा कि बिसरा के विचार से प्रतीत होता है। "मुण्डा लोग उधार–कर्ज लेते हैं किंतु महाजनी नहीं करते। महाजनी करके भाइयों का खून नहीं चूसते। तुमने महाजन कहकर मुझे गाली दी, महाराज।"[56] इस प्रकार बिसरा ने लाला बैजनाथ से प्रतिवाद किया था। लेकिन यह भी सच है कि यदि कहीं शोषण और महाजनी

---

55 टेरोडैक्टिल –महाश्वेता देवी, पृ.35.

56 चोट्टि मुण्डा और उसका तीरः महाश्वेता देवी ,पृ. 35.

प्रथा है तो सबसे ज्यादा आदिवासी क्षेत्रों में ही है। इसलिए तो "पूरन को लगता है – जिनके जीवन में 'शोषण' और 'प्रवंचना' के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं उन आदिवासियों की किसी भी भाषा में क्या 'शोषण' का समानार्थी कोई शब्द नहीं है? पर सिद्धांतकार कमाल, जो आदिवासी क्षेत्र में ही पड़ा रहता है, वह भी तो अपने दिमाग की पुस्तकीय कांच की दीवार नहीं लांघ पाता और बीच–बीच में जब उसका उदय होता है तो कहता है 'यार'! उनके बीच वर्गापसरण हो रहा है। छोटा होने पर भी उनके बीच एक ऐसे वर्ग का उदय हो रहा है, जो अपनी ही जाति का शोषण कर रहा है। उन्हें ठग रहा है।"[57] यदि अपनी ही जाति उसका शोषण करता है तो उसका रूप कुछ भिन्न होता है। जीनेटीकली समान होने के कारण आदिवासियों द्वारा आदिवासी का शोषण उतना विकराल और वीभत्स नहीं हो सकता।

यह मुख्यधारा के लोगों की राजनीति और साजिश ही है कि जब कोई आदिवासी अपने ही बिरादरी के लोगों से काम लेती है तो तुरंत आवाज उठती है कि फलां व्यक्ति आदिवासियों का शोषण कर रहा है। इसीलिए 'सरस्वती' नाराज होकर कहती है "हां–हां हमारे समाज में एक आदमी दूसरों को ठगकर करोड़–करोड़ रूपये बना सकता है, विदेशी खातों में रूपये जमा कर सकता है, वह तो आप आसानी से मान लेते हैं और उनके समाज को जो कुछ है सब हम छीन ले रहे हैं, हम अपने खड़े हुए मूल्यबोध उन पर लाद रहे हैं, और फिर अगर उनमें से कोई थोड़े पैसे बना लेता है या हमारी तरह हो जाता है तो आप लोग निरापद दूरी पर बैठकर उन्हें गाली देते हैं। कहते हैं, देखो, देखो! उस आदमी का चरित्र एकदम बदल गया है। वह आदमी आदिवासी नहीं रहा।"[58] इस प्रकार का मंतव्य अंशतः ही ठीक हो सकता है पूर्णतः नहीं। लेकिन राजनीतिक कारणों से इन विषयों को बढ़ा–चढ़ाकर दिखाया जाता है।

---

57 टेरोडैक्टिल –महाश्वेता देवी, पृ.35.

58 टेरोडैक्टिल –महाश्वेता देवी, पृ.35

यह राजनीतिक जागरूकता की परिणति ही है कि आदिवासी संथालों के गीतों में सुराज की कल्पना देखी जा सकती है। जैसा कि – "हतावा सोराज दराय राम राज जोगाव में, दाड़ियेन कोवाक मायाम सेताक् सोहान, हुसनक हेडोन पांजायमे गांधी बाबावाक् ताड़ाम ओतोल बोतोल, बियेल बोयोल हिपिड़ पेरोड्, पाताका सोहान ञेल माया मगारा, ओड़ाक, दाराहारा नाडगयनी बुड़वा नालोम।"[59] इसका मतलब : हे मित्रों, मिले सुराज की, रामराज की और शहीदों के खून की रक्षा करो। यह सुहानी उषा कितनी सुंदर है। तुम गांधी जी के बताए रास्ते पर चलो। (मित्रों) सुंदर फर–फर कराने वाला तीन रंग का सुहावना झण्डा फहराओ, खून और मांस के गारे से बने इस विशाल भवन को, जो (अभी) हड्डियों में टिका हुआ है, इसको यों ही बर्बाद न करो।

यह सर्वविदित है कि आज के युग में वही सफल राजनेता बना है जिसने काल को समझा है, इसके साथ ही अच्छे बुरे की पहचान रखता है। यह केवल राजनीति में ही नहीं बल्कि सफल जिंदगीका मूल मंत्र भी है। बंजारी समझ गई थी कि पटेल अच्छा व्यक्ति है या पादरी। लेकिन पति जोसेफ के दबाव में बंजारी को अपना विचार बदलना पड़ता है। आज भी इसका स्वरूप समाज में देखा जा सकता है। यही बाहरी दबाव राजनीति में अपराधीकरण की प्रवृति को प्रोत्साहित कर रही है। राजनीतिक परिणति वहीं है जहां "हर जाति, हर धर्म और हर फिरके के लोगों को रहने का अधिकार है। हिंदू हो या मुसलमान, ईसाई हो या और कोई जाति, कोई भेद नहीं। सब एक हैं। सब धर्मों को बढ़ने का मौका मिले। जहां भेदभाव नहीं, अपने–पराए की बात नहीं, वहीं तो जीवन का आनंद है, नहीं तो आदमी वैसे ही घुलता रहता है, जैसे घुन लगा काठ अपने आप कमजोर हो जाता है।"[60] इसीलिए आज भी समाज में सर्वधर्म समभाव से ओतप्रोत राजनीतिक

---

59 सूरज किरन की छांव – राजेन्द्र अवस्थी ,पृ.131.

60 सूरज किरन की छांव – राजेन्द्र अवस्थी ,पृ.148.

प्रवृत्ति को ही प्रोत्साहन देना चाहिए। जिसका आज के युग में आत्यावश्यकता सहज महसूस की जा सकती है।

बंजारी जैसी ग्रामीण महिला की जागरूकता की राजनीतिक परिणति ही है कि उसे "रात भर नींद नहीं आयी। मन भारी था। पादरी जीत जाएगा, इसका मुझे दुख नहीं था, पर वह देवता हार जाएगा, जिसे देखने लाखों लोग टूट पड़े थे, यह याद आते ही आंखें छलछला आती थीं।"[61] बंजारी चुनाव का परिणाम जानने को उत्सुक थी। दूसरे दिन दोपहर को जोसेफ घर आया तो पता चला कि पादरी हार गया। "पटेल जीत गया, बैल जोड़ी छाप की जीत हो गयी, जवाहिरलाल जीत गए – मैं बेहद खुश हुई। पर अपनी खुशी को छिपाकर मैंने कहा तब तो बड़ा बुरा हुआ ।.....जासेफ बैठा–बैठा अपने आप सिसकने लगा, जैसे उसी की हार हुई है। मैं चुपचाप बाहर निकलकर आ गयी। चाहती थी कि ग्रेसरी को यह शुभ संवाद सुना दूं और अपने मन का गुबार निकाल दूं।"[62] इस प्रकार जोसेफ का दुःखी होना और बंजारी का मन ही मन खुश होना राजनीतिक जागरूकता है। लेकिन जहां एक ओर जोसेफ धर्मांधता से परिपूर्ण है। वहीं दूसरी ओर बंजारी सच्चा समाज सेवक और अच्छी राजनेता की जीत से खुश है।

अतः कहा जा सकता है आदिवासियों में राजनीतिक जागरूकता तो पहले से ही व्याप्त है लेकिन मुख्यधारा की छलपूर्ण राजनीति का पाठ इन आदिवासियों ने बाद में सीखा है। जो आनेवाले समय में समाज और देश के लिए विनाशकारी ही साबित होगा।

(घ) आधुनिक लोकतंत्रिक व्यवस्था में भागीदारी :

भारत दुनिया का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक राष्ट्र है। अभी तक लोकतंत्र भारत में सफलतापूर्वक चल भी रहा है। लेकिन भारत में लोकतंत्र सफल हुआ है

---

61 सूरज किरन की छांव – राजेन्द्र अवस्थी ,पृ.151.

62 सूरज किरन की छांव – राजेन्द्र अवस्थी ,पृ.151.

या नहीं इस विषय में विवाद है। डा. राजेंद्र प्रसादने संविधान सभा में कहा था कि "संविधान में कुछ प्रावधान हों या न हों, देश का कल्याण इस पर निर्भर करेगा कि उसका शासन कैसा है और शासन निर्भर करेगा शासकों पर, कहा जाता है कि किसी देश के वैसी ही सरकार मिलती है जिसका वह अधिकारी है, जिन लोगों को चुना गया है, यदि वे योग्य, ईमानदार तथा चरित्र और निष्ठा वाले व्यक्ति हुए, तो वे त्रुटिपूर्ण संविधान को भी सर्वोत्तम बना देंगे। क्योंकि लोकतंत्र रूपी स्तंभ का आधार तो जनता में ही निहित है। इसीलिए अब्राहम लिंकन कहते हैं कि "लोकतंत्र जनता की, जनता द्वारा तथा जनता के लिए सरकार है।" लेकिन वर्तमान संकुचित प्रवृतियां इसे भीड़तंत्र में परिणत करने को कटिबद्ध प्रतीत होती है। समय रहते इसका उपचार करना आवश्यक है, सर्वाधिक महत्वपूर्ण है जनमानस की स्वस्थ मानसिकता को बनाना तथा उसे बनाए रखना। राजनीतिक नेतृत्व जनमानस की मानसिकता को प्रदूषित करते रहते हैं, जिससे लोकतंत्र को खतरा पैदा होता है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर संविधान निर्माताओं ने लोकतांत्रिक व्यवस्था में समान आनुपातिक प्रतनिधित्व रखने का प्रयास किया है। जिससे समाज के सभी वर्गों का समान रूप से विकास हो सके। जिसमें आदिवासियों ने भी बढ़चढ़कर हिस्सा लिया। जिसको छोटे–छोटे सम्मेलन से लेकर बड़े–बड़े जनसभाओं में उनकी उपस्थिति देखी जा सकती है। जैसा कि मैला आंचल के कामरेड सैनिक सोशलिस्ट पार्टी के नेता हैं, वे कहते हैं कि "यह पार्टी असली है। किसानों की पार्टी, गरीबों की पार्टी! सभा–स्थल पर ही तीन सौ मेंबर बन गए। संथाल टोली का एक आदमी भी गैर मेंबर नहीं रहा। अब लाल! सिर्फ सरदार टूडू का तेरह साल का लड़का रह गया है। वह रोता है, सरदार टुडू सैनिक जी के पास जाकर अपील करता है, इसका नाम लेंबरी में नहीं लिखा जाएगा? क्यों? उमेर कम नहीं, देखिए इसको मोंच का रेख आ रहा है।"[63] इस प्रकार का उत्साह और उमंग राजनीतिक उत्कंठा ही हो सकता है।

---

[63] मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु, पृ.103.

आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था की विशेषता ही है कि आज लोग उत्साहपूर्वक सभा–सम्मेलन में शामिल होते हैं। इसका उत्साह आदिवासियों में सदा से रहा है, जिसे देखा जा सकता है "चलो! चलो! सभा देखने चलो! सोशलिस्ट पार्टी की सभा की खबर ने संथाल टोली को विशेष रूप से आलोड़ित किया है। गांव में अस्पताल खुलने की खुशखबरी की कोई खास प्रतिक्रिया संथालों पर नहीं है! लेकिन यह सभा? जमीन जोतने वालों की?... कर्तव्यनिष्ठ और मेहनती संथाल किसानों की दिमाग की मुद्दत से उलझी हुई गुत्थी का सही झुकाव! जमीन जोतने वालों की सभा।"[64] संथालों के जीवन–यापन का मूल आधार कृषि रहा है। ऐसे में भला किसानों की होने वाली सभा से कैसे नदारद रह सकते हैं?

जग जाहिर है स्थानीय नेता किस तरह ग्राम के सीधे–साधे इंसान को मुर्ख बनाकर अपना काम निकालते हैं। वे अपने राजनीतिक लाभ के लिए अलग–अलग पैंतरे बदलते हैं। ऐसे समाज में भला आदिवासी कैसे बच सकते थे। स्थानीय नेता कालीचरन कह रहा है। "जमीन किसकी? ... जोतने वाले की। जो जोतेगा वह बोएगा, जो बोएगा वह काटेगा। कमाने वाला खाएगा, इसके चलते जो कुछ हो।"[65] इस तरह कालीचरन सीधे–सादे ग्रामीणों को समझा रहे हैं। बेचारे आदिवासी अबोध बालक की तरह कालीचरन को सुन रहा है। सुनना उनकी विवशता और मजबूरी भी हो सकती है। क्योंकि अपनी जगह–जमीन से विस्थापित तथा कृषक से मजदूरी जीवन बिताने वाला आदमी भला और क्या कर सकता है? यह लेखक की सूक्ष्मदर्शिता और अद्‌भुत प्रतिभा का ही परिणाम है कि वे आदिवासियों का स्पष्ट बिम्ब खड़ा करते हैं। "चारों ओर स्वस्थ, सुडौल, स्वच्छ और सरल इंसानों की भीड़! श्याम मुखड़ों पर सफेद मुस्कराहट, मानो काले बादलों में तीज के चांद के सैकड़ों टुकड़े। बिरसा मांझी का जवान बेटा मंगल

---

64 मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु, पृ.100.

65 मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु, पृ.100.

मांझी कालीचरन के वाक्यों को गीतों की कड़ी में तोड़ने की चेष्टा करता है।... जोहिरे, जोतने सोहिरे बोयबे...।"[66] मंगल मांझी द्वारा कालीचरन के वाक्यों को गीतों की कड़ी में जोड़ने का प्रयास राजनीति गतिविधि में उसके उत्साह को प्रदर्शित करता है। क्योंकि बिना इच्छा के इतना उत्साह उत्पन्न नहीं हो सकता है।

यह आदिवासियों की कुसंस्कार कहें या आधुनिक युग की अवधारणा आदमी जैसे–जैसे आगे बढ़ता है वैसे ही वह अपनी जाति और समुदायों से दूर हो जाता है। इनके जनप्रतिनिधि भी इनकी समस्याओं को सही तरीकों से नहीं उठाते हैं। इसके कई कारण हो सकते हैं। मेरी समझ में इसका एक कारण यह हो सकता है कि मुख्यधारा से अलग रहने के कारण उनके कार्य–कलापों को सीखने में समय लग सकता है? दूसरा कारण यह हो सकता है कि ज्यादा पढ़ा–लिखा नहीं होने के कारण कम बोलते हैं। यह भी हो सकता है कि जानकारी के अभाव में चुप रहना ही उचित समझते हैं। इसके अलावा आदिवासियों की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वे अंतर्मुखी होते हैं। दूसरों के सामने अपनी बातों को नहीं रख पाते हैं या रखने में असुविधा महसूस करते हैं। मेरी समझ से उनको शिक्षा देकर ही उनकी इन समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। लेकिन इसके साथ ही अन्य समस्याएं उत्पन्न हो जाती है जैसाकि आदिवासी जब शिक्षित हो जाते हैं तो वह हीनता की भावना से ग्रस्त हो जाते हैं और अपनी पहचान छुपाने का अनर्थक प्रयास करते हैं। मुख्यधारा में घुल–मिलकर सर्वत्र भूलने का प्रयास करते हैं। जैसाकि निर्वाचित होते ही उनकी अपनी जाति के लोग उन्हें दूर ठेल देते हैं। वे निर्वाचित भी होते हैं किसी न किसी पार्टी की मदद से। पार्टी का मामला भी उनके भीतर एक दूरी पैदा करता है और उनकी अपनी पार्टी के सामान्य लोगों से भी वे दूर हो जाते हैं। फिर विधानसभा, राज्यसभा, मंत्रिमंडल –

---

66 मैला आंचल – फणीश्वरनाथ रेणु, पृ.100.

वहां भी आदिवासी मुख्यधारा के बीच अकेला महसूस करताहै। एम.एल.ए और एम. पी. की क्या बात करें? सरपंच और ग्राम प्रधान भी अपने पंचों के लिए कुछ नहीं कर पाते, अपनी पंचायत की उन्नति करने पर उन्हें स्वार्थी कहा जाता है। कितनी मजेदार बात है। पश्चिम बंगालके किसी आदिवासी प्रमुख के या किसी एम.एल.ए. के बारे में किसी अखबार में निकला था कि व सिर्फ अपनी पार्टी को पैसा देता है और अपने इलाके में कोई काम नहीं करता? यह सोलहों आने सत्य प्रतीत होता है। इस प्रकार के लोगों की आज भी कमी नहीं है। पूर्व बिहार और अब झारखंड के एक आदिवासी एम एल ए जो कहने को तो प्रगतिशील पार्टी से जीता था। उन्होंने अपने विधानसभा निधि को अपने क्षेत्रों में नहीं लगा जिला के प्रशासक और वहां की जनता को खुश रखने के लिए जिला मुख्यालय के विकास में अपना पूरा निधि खर्च कर डाला। लेकिन आज आदिवासी जनता इतनी नासमझ नहीं है। विधायक की नासमझी पूर्ण कार्य हेतु वहां की जनता ने गिन–गिनकर हिसाब लिया। जैसा कि उस विधायक को अपने कार्यलय में ही आदिवासी जनता ने जूतों और चप्पलों से पुरस्कृत किया। इसके साथ ही अनादिकाल के लिए त्याग दिया गया। यह आधुनिक और अच्छी शिक्षा का ही परिणाम है कि जनता समय–समय पर नेताओं को सबक सिखाती है।

आदिवासी नेताओं की कार्यकलापों को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि वे भी मुख्यधारा की नेताओं की तरह भ्रष्ट हो रहे हैं। चुनाव के समय क्षेत्रीय समस्याओं को चुनावी मुद्दा बनाकर जीतते हैं लेकिन कालांतर में वह सब कुछ भूल जाते हैं। इसीलिए हरीशरण कहता है "यह तो बहुत–सी जगहों पर हो रहा है और कहीं–कहीं जब आदिवासी एमएलए हमारी तरह यानी मुख्यधारा की तरह हो जाता है तो वह हमारी तरह ही बदमाश हो जाता है।"[67] आजकल इस तरह के उदाहरण सर्वत्र देखा जा सकता है। आदिवासी एमएलए और एमपी यही

---

[67] टेरोडैक्टिल –महाश्वेता देवी, पृ.50.

आजकल उनका सबसे बड़ा शोषक है। वे आदिवासियों का भावनात्मक दोहन करते हैं उनकी समस्याओं पर ध्यान कम देते हैं और मुख्यधारा से जुड़े लोगों की समस्याओं पर अधिक ध्यान देते हैं। उनकी समस्याओं का समाधान शीघ्रातिशीघ्र करने का प्रयास करते हैं। लेकिन आदिवासियों के प्रति उनकी भावना नकारात्मक ही होती है। उसे केवल चुनाव के समय ही जाति और समुदाय की याद आती है। मेरे विचार में इन आदिवासी नेताओं को आदिवासियों के विकास और उत्थान हेतु कुछ ज्यादा ध्यान देना चाहिए। क्योंकि मुख्यधारा के लोगों की समस्या लगभग एक ही जैसी होती है लेकिन आदिवासियों की समस्या मुख्यधारा के लोगों से भिन्न होती है। इन नेताओं को ऐसा कार्य करना चाहिए कि आदिवासियों को मुख्यधारा से जोड़ा जा सके। इसके साथ उनके होने वाले विस्थापन को भी कम किया जा सके।

आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था में समानुपातिक प्रतनिधित्व की पद्धति से एक लाभ तो यह हुआ कि आदिवासी मुख्यधारा से जुड़ गया। अब वहां के लोगों की विकास की जहां तक बात है तो यह वहां के जनप्रतिनिधि और जनता के सहयोग पर ही निर्भर करता है। यदि वह प्रतिनिधि शिक्षित और चालाक है तो कई प्रकारके कार्यों को करवा सकता है। जैसा कि हरिशरण कहता ह "पास में ही मालपुरा है। वहां का सरपंच चोरी भी करता है और काम भी करता है। उसके आदिवासी पंच उससे कुछ मांगने में डरते हैं, हालांकि आदिवासियों के लिए तरह–तरह की योजनाएं और पैसे उपलब्ध हैं।"[68] इस प्रकार की प्रवृत्ति भारतीय राजनेताओं में देखा जा सकता है। आज ये राजनेता अपने अपने क्षेत्रों के विकास के लिए या कहें अपने विकास के लिए बड़ी–बड़ी योजनाओं का गबन कर जाना भी गलत नहीं मानते। आज कल इस प्रकार के नेताओं की लंबी सूची बनाई जा सकती है। लेकिन आदिवासी नेता इस प्रकार के कार्यों में पीछे रह जाते हैं।

---

68 टेरोडैक्टिल –महाश्वेता देवी, पृ.50.

इन प्रवृत्तियों से अपराधी तत्वों को भी कभी–कभी शरण मिलती है। सरकारी तंत्रों की विफलता एवं भ्रष्टाचार की ज्यादती के कारण ही आम जनता अपराधियों से न्याय की मांग करते हैं। ऐसा तभी होता है जब रक्षक ही भक्षक होता है। इस प्रकार की प्रवृति अंततः विस्थापन का कारण बनता है।

जनप्रतिनिधि आदिवासी समाज को इस व्यवस्था में कम से कम जोड़ने का प्रयास करता है। कुछ भी क्यों न हो। "कम से कम सरपंच पर विश्वास तो करते ही हैं। पर जब से सरपंच के लड़के पढ़–लिखकर नौकरी में लग जाते हैं तो लगता है कि उनके बीच कुछ दूरी बढ़ी है।"[69] सरपंच या एम एल ए और एम पी ही सरकारी तंत्रों से आदिवासियों को मिलाने का एक तंत्र है। इसलिए इतना निश्चित है कि ये आदिवासी अपने जन–प्रतिनिधि पर विश्वास करते हैं। भले ही जनप्रतिनिधि उनकी समस्याओं के बारे में ध्यान नहीं देता हो।

हम सभी जानते हैं कि शिक्षा 'अधिकार बोध' कराती है। यही कारण है कि वह अपने अधिकारों की मांग सांविधानिक तरीके से करती है। जैसाकि "यह झारखंड है। दिकुओं ने इसे बर्बाद कर दिया है। आरा–छपरा के लोगों ने लूटा है। अब अपना राज लेंगे झारखण्डी सब। उनका चिह्न मुर्गा या अब तीर और नगाड़ा हो गया है।"[70] आदिवासी अपने को यहां के मूल निवासी मानते हैं। यही कारण है जिस किसी भी क्षेत्र में ये बहुतायत से रहते हैं वहां अपना अलग राज्य की मांग करते रहे हैं। इसी मांग और आंदोलन के परिणाम स्वरूप छत्तीसगढ़ और झारखंड राज्य का निर्माण हुआ।

भारतीय राजनीति में जाति और धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। जिस क्षेत्र में जिस जाति और धर्म के लोग बहुतायत से रहते हैं उन क्षेत्रों में उसी जाति और धर्म के लोगों को चुनाव टिकट दिया जाता है। जिसके कारण भारतीय

---

69 टेरोडैक्टिल –महाश्वेता देवी, पृ.50.

70 मौसी – रमणिका गुप्ता ,पृ.71.

राजनीति विकास की राजनीति नहीं होकर धर्म की राजनीति हो गई है। आदिवासी क्षेत्र भला इससे कैसे बचा रह सकता था। 'सूरज किरन की छांव' उपन्यास में बंजारी जैसी सीधी–सादी ग्रामणी भी धर्म और विकास के अंतर्द्वंद्व में फंस जाती है। एक ओर पादरी खड़ा है जो बंजारी के इसाई धर्म से संबंधित ही है। वहीं दूसरी ओर पटेल जैसा समाज सेवक खड़ा है जो बात–बात पर सबकी सेवा को तत्पर है। बंजारी की अंतर्द्वंद्व को पटेल समझ जाता है। इसलिए वह कहता है "वह तुम्हारा पादरी है, चाहो तो उसे ही वोट डाल सकती हो, पर तुम्हें कोई दबा नहीं सकता, तुम्हारा पति भी नहीं। तुम आजाद देश की नागरिक हो, जिसे चाहो वोट दे सकती हो.. पटेल ने जो बात कहनी शुरु की तो कहता गया, मैं नहीं कहता मुझे वोट दो, पर यह भी कह दूं कि तुम्हें इस मसले में किसी की मरजी पर नहीं चलना चाहिए। तुम पर जो दबाव डाले, मुझसे कहो। सरकार तुम्हारी मदद करेगी।"[71]

बंजारी नेहरू जी से काफी प्रभावित थी, क्योंकि उन्होंने नेहरू जी को भाषण देते सुना था। इसीलिए तो वह कहती है कि "नेहरु जी जैसी निर्भीकता मैंने किसी में नहीं देखी। उतने बड़े मजमे में सिंह जैसे दहाड़ते थे। किसी की क्या मजाल कि एक शब्द भी कह ले। पादरी भी नीचे जमीन पर भींगी बिल्ली बना बैठा था। जिस देश को ऐसा नेता मिले उसके भाग चमकने में क्या देर? उनके विचारों में कितनी सफाई थी। कोई घबराहट नहीं। उन्होंने ईसाइयों को गाली नहीं दी। कहते थे 'यह ऐसा देश है, जहां हर जात, हर धरम और हर फिरके के लोगों को रहने का अधिकार है। हिंदू हो या मुसलमान, ईसाई हो या और कोई जात, कोई भेद नहीं। सब एक हैं। सब धर्मों को बढ़ने का मौका है।"[72] हम सभी जानते हैं कि नेहरू जी ने धर्मनिरपेक्ष संप्रभुतासंपन्न राज्य की कल्पना की थी, जिसमें सभी को जीने की स्वतंत्रता मिल सके। वहीं पादरी धर्मांधता के

---

71 सूरज किरन की छांव – राजेन्द्र अवस्थी ,पृ.142.

72 सूरज किरन की छांव – राजेन्द्र अवस्थी ,पृ.148..

कारण कह रहा है कि "ईसाई धर्म की जड़ें गहरी करने के लिए मुझे वोट दो। ईशू का कहना था कि जाओ, दुनिया के भूले आदमियों को राह दिखाओ... अब राह दिखाने का अवसर आ गया है। सारे हिंदुस्तानी भटके हैं भूले हैं"[73] लेकिन इतना तो कहा जा सकता है कि इस ग्रामीण बंजारी को अब भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था की समझ आ गई थी। बंजारी द्वारा पादरी को वोट नहीं देने की स्थिति में जोसेफ द्वारा खाल खींच लेने की धमकी ने अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर ही प्रश्न खड़ा कर दिया है। बंजारी अब समझने लगी थी कि कौन अच्छा है और कौन बुरा है। इसीलिए बंजारी कहती है "इस देश का यह कानून ही खराब है। यदि लोगों की बोट डालने में खाल खींची जाती है तो सरकार चुनाव का ढोंग ही क्यों रचाती है। जहां वोट देने के लिए आदमी आजाद न हो और वह जिसे वोट दे उसका पता सबको लग जाय तो फिर चुना करने का क्या फायदा।"[74]

आधुनिक भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था में भागीदारी का मतलब चुनाव में खड़ा होना ही नहीं। चुनावी मतदान में भाग लेकर भी इसकी भागीदारी निभाई जा सकती है। बंजारी द्वारा चुनावी मतदान में हिस्सा लेकर लोकतांत्रिक व्यवस्था में भागीदारी ली है। जैसाकि "अफसरों ने मुझे हरे रंग का एक कागज दिया है और भीतर एक कमरे में भेज दिया। वहां चार–पांच पेटियां रखी थीं – बैल जोड़ी–छाप, झोपड़ी छाप, हंसिया छाप, खजूर का पेड़... मैं एक पल खड़ी होकर सोचने लगी। बार–बार चारों पेटियों में नजर डाली थी। पर वह आकर बैल जोड़ी छाप वाली पेटी में थम जाती थी एक चित्र में मैंने नेहरू जी को हाथ जोड़कर वोट मांगते देखा था। सोच रही थी – देवता खुद वोट मांग रहा है, उसे छोड़कर फिर किसे वोट दूं। पर जोसेफ का चेहरा जैसे ही आंखों के सामने आया, सच भूल गयी। चुपचाप खजूर के पेड़ वाली पेटी में वोट डालकर चली आयी।"[75]

---

73 सूरज किरन की छांव – राजेन्द्र अवस्थी ,पृ.148..

74 सूरज किरन की छांव – राजेन्द्र अवस्थी ,पृ.149..

75 सूरज किरन की छांव – राजेन्द्र अवस्थी ,पृ.150.

कमोवेश आज भारतीय नारियों के साथ ऐसा ही होता है। औरत अभी भी पुरुषों के कहने पर ही वोट देती है। लेकिन आज समाज में बंजारी जैसी क्रांतिकारी नारियों की भी कमी नहीं है। जैसा कि वह कहती है "बाहर आयी तो गुलाबी रंग का दूसरा वोट मुझे दिया गया। मैं फिर एक दूसरे कमरे में गयी। वहां भी इसी तरह पेटियों को रखे देखा, पर वोट डालने का जी नहीं हुआ। दिमाग भारी हो गया था, अपना वोट एक पेटी के ऊपर रखकर चली आयी – बस देखेगा, उठा लेगा। अंदर डालने में ही क्या धरा है? पैरों में आज जो बेड़ी पड़ी है कल भी पड़ी रहेगी – चाहे कोई जीते, कोई हारे। नेहरू जी का राज हो या पादरी की हुकूमत, मेरे लिए दोनों में कोई अंतर नहीं है। मेरी हालत यही बनी रहेगी। उसे सिर्फ मेरा भाग बदल सकता है, यदि वह जीत जाय पर वह तो चुनाव में खड़ा ही नहीं हुआ। मैं पछताने लगी, ऐसा जानती तो अपने 'भाग' को भी चुनाव में खड़ा कर देती – एक बार परीक्षा तो हो जाती – खोटा हो या खरा।"[76] इस प्रकार बंजारी द्वारा अपने मतपत्र को मतपेटी के ऊपर छोड़ देना जोसेफ के विरुद्ध एक मौन विद्रोह है। आज समाज में कितने बंजारी हैं, कहना मुश्किल है जो चुनाव को नियति पर छोड़कर मुक्ति का अहसास करते हैं। आदिवासी क्षेत्रों में यह स्थिति अत्यधिक पायी जाती है, क्योंकि नेता बदला, सरकार बदली परंतु इन आदिवासियों की स्थिति अभी भी नहीं बदली है।

हम जानते हैं कि लोकतांत्रिक तरीके से निकाला गया किसी भी समस्या का समाधान सबसे बेहतर होता है। इस समाधान के स्वामित्व पर भी विश्वास किया जा सकता है। यही कारण है झारखंड के आदिवासियों ने 'झारखंड नामधारी पार्टी' के नेतृत्व में अलग राज्य के लिए जबर्दस्त आंदोलन किए। आदिवासी जनता ने इस आंदोलन में बढ़चढ़कर हिस्सा लिया। जयपाल सिंह, संपूर्ण झारखंड की 'आवाज' बन गए। तत्कालीन प्रधानमंत्री ने आदिवासियों के

---

[76] सूरज किरन की छांव – राजेन्द्र अवस्थी ,पृ.150.

मध्य से उभरे उस पढ़े–लिखे शुभचिंतक नेता को गंभीरतापूर्वक लिया। जयपाल सिंह के नेतृत्व में पार्टी ने सन् 1952 का चुनाव सफलता पूर्वक लड़ा और बिहार विधान सभा में वह कांग्रेस के बाद दूसरी सबसे बड़ी पार्टी बनकर उभरी। मुख्य विपक्षी दल का उसे दर्जा मिला। आदिवासी जनता को भरोसा हो गया था कि अब उनका 'झारखंड' उन्हें मिलकर रहेगा। लेकिन इस सत्ता ने जयपाल सिंह को अंदर से कमजोर करने का जो षडयंत्र शुरु किया, वह झाराखंड आंदोलन के लिए खतरनाक साबित हुआ। श्री सिंह धीरे–धीरे कांग्रेस के करीब होते गए और सन् 1963 में उन्होंने कांग्रेस में शामिल होने का फैसला करके संपूर्ण आदिवासी समाज को चौंका दिया।"[77] इस प्रकार अपने सर्वप्रथम नेताओं की दगाबाजी ने आज तक झारखंडी जनता को चौंकाने की प्रक्रिया चालू रखा है। इन नेताओं ने कभी भी एक बैनर के तले चलना मुनासिब नहीं समझा। समय की मांग को समझ नहीं सके। जिससे 1964 से 1968 तक आदिवासी जनता शांत रही। "सन् 1969 में फिर 'अखिल भारतीय झारखंड पार्टी' का गठन हुआ। बागुन सुब्रई और एन ई होरो के रूप में नया नेतृत्व मिला।"[78] लेकिन दोनों दो पग साथ नहीं चल सके।" सन् 1970 में कुछ झारखंडी नेताओं ने चुनाव लड़ने के लिए 'हुल झारखंड' नाम से अलग पार्टी बनाई, जो जल्दी ही विलुप्त हो गई।"[79] इस प्रकार झारखंडी नेताओं का गठन और विघटन जारी रहा, लेकिन लोकतांत्रिक आस्था बनी रही। इसी समझ के कारण "सन 1970 में 'झारखंड मुक्ति मोर्चा' के गठन के साथ झारखंड आंदोलन को फिर से एक नई ताकत मिली। शिबू सोरेन के नेतृत्व में इसने सामाजिक सुधार और अलग राज्य की राजनीतिक मांग पर जर्बदस्त आंदोलन चलाया। बहुत जल्दी ही झारखंड मुक्ति मोर्चा संपूर्ण झारखंड क्षेत्र में लोकप्रिय हो गया। अलग झारखंड राज्य की मांग पर आंदोलन चलाने के

---

77 झारखण्ड : जादुई जमीन का अंधेरा –उर्मिलेश, पृ. 102.

78 झारखण्ड : जादुई जमीन का अंधेरा –उर्मिलेश, पृ. 103.

79 झारखण्ड : जादुई जमीन का अंधेरा –उर्मिलेश, पृ. 103.

साथ–साथ इसने सूदखोर महाजनों, क्रूर सामंतों, रिश्वतखोर अफसरों और आदिवासियों के अंदर की कुप्रथाओं के खिलाफ भी अभियान चलाया। इसका परिणाम यह हुआ कि दुमका, धनबाद, रांची और सिंहमूम के इलाके में शिबू सोरेन उर्फ 'गुरुजी' आदिवासियों के लिए काफी माना जाने लगा। श्री सोरेन के नेतृत्व में झारखंड में कई बड़ी–बड़ी रैलियां हुई जो अपने आकार और राजनीतिक अंर्तवस्तु के हिसाब से बेमिसाल मानी गई।"[80] लेकिन कालांतर में झारखंड मुक्ति मोर्चा संसदीय राजनीति के सता समीकरण और अन्य चस्कों में रूचि लेने लगी। जिससे लगने लगा था कि झारखंड नामधारी आंदोलन अपनी इतिहास की पुनरावृत्ति करेगी। लेकिन यह पार्टी किसी अन्य दलों में अपने को शामिल तो नहीं किया, बल्कि "उनकी टीम ने कई मौकों पर सताधारी दलों और गुटों के साथ आसान–सा–समझौता किया। नवें दशक में इसकी कांग्रेस से लेन–देन की राजनीतिक सांठ–गांठ चली।"[81] जिससे सन् 1990 के बाद इसने सता पर काबिज हुए लालू प्रसाद यादव से हाथ मिलाया। जिसके परिणामस्वरूप 'जहां झामुमो' के अच्छे रिश्ते का झामुमो ने भरपूर लाभ उठाया। यह लाभ क्षेत्रों के विकास हेतु नहीं। बल्कि अपना पॉकेट भरने पर ही लगा दिया। जिसका खामयाजा झामुमो को समय–समय पर झेलना पड़ा है। ठीक ही कहा गया है कि पाप का घड़ा तो भरना ही था। कुख्यात 'झारखंड सांसद रिश्वत कांड' से इनके राजनीतिक भ्रष्टाचार का भंडाफोड़ हुआ। जिसके कारण इन नेताओं को न्यायालय तक का चक्कर लगाना पड़ा। लेकिन यहां एक सवाल उठता है कि 'झारखंड सांसद रिश्वत कांड' नामकरण क्यों। इसके इतर नामकरण भी तो हो सकता था। क्योंकि इसमें कई दलों के लोग शामिल थे। सरकार चूंकि कांग्रेस की थी इसलिए इस रिश्वत कांड का नामकरण कांग्रेस पार्टी के नाम पर होना चाहिए था।

---

80 झारखण्ड : जादुई जमीन का अंधेरा –उर्मिलेश, पृ. 103.

81 झारखण्ड : जादुई जमीन का अंधेरा –उर्मिलेश, पृ. 103–104.

देश की यही विडंबना है कि सभी समुदाय के लोगों को केवल अपना नेता चाहिए। जिससे वे अन्य समुदायों पर अपना प्रभाव दिखा सकें। ऐसा ही एक इस्तहार 'दैनिक हिंदुस्तान' में देखने को मिला जिसमें लिखा था "वैश्य, अग्रवाल, जैन, बंधुओं से भाजपा को समर्थन देने की अपील।"[82] अपील यह था कि दिल्ली विधान सभा चुनाव में अपने समाज के 15 वैश्य बंधुओं को टिकट देकर 'भारतीय जनता पार्टी' ने हमारा गौरव बढ़ाया है। जबकि कांग्रस ने सिर्फ कुछ को ही टिकट दिया है। यदि इस देश में इस प्रकार नेतृत्वों की मांग होती रही तो वह समय दूर नहीं, जब पूरे देश में अव्यवस्था फैल जाएगी। देश को कई भागों में विभाजित होने से कोई नहीं बचा सकता। इसलिए होना यह चाहिए कि आम जनता और राजनेता को भी इस तरह की क्षुद्र राजनीति से परहेज करना चाहिए। क्योंकि हम जो करते हैं वही आने वाली पीढ़ी भी सीखती है। इसलिए क्यों न हम अभी से ही सावधान हो जाएं।

---

82 दैनिक हिन्दुस्तान , नई दिल्ली :शनिवार 29 नंवबर2003. पृ. 03.

अध्याय–पांचवां

कथा साहित्य में विस्थापन की समस्या और उसकी अभिव्यक्ति के विविध रूप

(क) आदिवासी समाज और शिल्प के अंतःसंबंध

(ख) लोक संस्कृति के सर्जनात्मक धरातल

(ग) भाषा शैली के आंचलिक तथा लोकरंग/रूप

(घ) प्रतीक, रूपक और बिम्ब विधान

कथा साहित्य में विस्थापन की समस्या और उसकी अभिव्यक्ति के विविध रूप।

विस्थापन की समस्या मानवीय जीवन की विकट समस्याओं में से है। जमीन–जायदाद मात्र से वंचित होना ही विस्थापन नहीं है, यह कई रूपों में मानवीय जीवन को प्रभावित करती है, जैसा कि शारीरिक विस्थापन के अलावा सामाजिक अथवा हमेशा के लिए पेशागत विस्थापन हाशिए के लोगों की अनिवार्य नियति बन गई है। इससे स्थान परिवर्तन को मजबूर लोगों को अपना मूल पेशा छोड़कर एक सर्वथा भिन्न पेशा अपना लेना पड़ा। इन समस्याओं की गंभीरता को देखकर सहज ही इस विषय पर विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता महसूस की जा सकती है। क्योंकि आदिवासियों का इतिहास सदियों से स्थानांतरण एवं विस्थापन का दर्दनाक इतिहास रहा है। वे कहां से आए, कैसे आए, किस ऐतिहासिक कारणों से वे उन क्षेत्रों में बसे, इसकी पड़ताल अभी शेष है। आज भी आदिवासी अपने स्थान से विस्थापित होने को विवश है। इनके निर्गमन और विस्थापन का अंत स्वाधीनता के बाद भी नहीं हुआ है। यह बात सही है कि आज चाय बगानों की ओर पलायन नहीं होता। कोयले के खानों की ओर यात्रा में भी कमी आई है। पर इनकी जगह ले रही है विभिन्न राज्यों के ईंट–भट्टों, पंजाब एवं हरियाणा के खेतों एवं महानगरों के परिवारिक सेवाओं तथा विभिन्न कल–कारखानों में नौकरी का आकर्षण। यह स्थानांतरण कालांतर में उन्हें विस्थापितों को नारकीय जीवन व्यतीत करने को मजबूर किया है। कथा साहित्य में विस्थापन की इन समस्याओं और उनकी अभिव्यक्ति को विविध रूपों में देखा जा सकता है।

(क) आदिवासी समाज और शिल्प के अंतःसंबंध :

आदिवासी समाज और शिल्प के अंतःसंबंध पर विचार करने से पूर्व हमें समाज के बारे में जान लेना चाहिए। व्यापक रूप से समाज ऐसे व्यक्तियों का

एक समूह है जो सामान्य उद्देश्यों, कार्यों तथा मनोकामनाओं के लिए संगठित होकर साथ–साथ रहते हों। यह उन समस्त समुदायों तथा संस्थाओं का पूर्ण योग है जिनके द्वारा मनुष्य अपने सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति का प्रयत्न करता है। बार्कर के अनुसार "समाज से हमारा तात्पर्य अनेक उद्देश्यों तथा अनेक संस्थाओं वाले उन सब ऐच्छिक समूहों तथा समुदायों से होता है जो किसी राष्ट्र के अंतर्गत होते हैं। सामूहिक रूप से ये ही समुदाय उस सामाजिक ढांचे का निर्माण करते हैं जिसे हम समाज के नाम से पुकारते हैं।"[1] इस प्रकार समाज मनुष्य का समुदाय है जिसका उद्देश्य अपने सदस्य की भलाई करना है। समाज संगठित और असंगठित दोनों ही तरह का हो सकता है। जिस समय मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान में घूमता–फिरता था और कबीलों के रूप में रहता था, उस समय भी मनुष्य का समाज था परंतु वह संगठित नहीं था। जैसा कि आदिवासी समाज में आज भी कहीं–कहीं दिखाई पड़ता है। यह सच है कि मनुष्य और समाज का जन्म साथ–साथ हुआ है। आदिकाल में जब राज्य का जन्म नहीं हुआ था तब भी लोग किसी न किसी समाज के सदस्य अवश्य थे। धीरे–धीरे समाज संगठित होता गया जिसके परिणामस्वरूप राज्य अस्तित्व में आया। आज आदिवासी समाज इसी राज्य में अपने अधिकारों की मांग कर रहा है, जिससे अपनी अस्तित्व की रक्षा की जा सके। इसके साथ ही आदिवासी समाज अपना बहुमुखी विकास करना चाहते हैं।

आदिवासी समाज की विशिष्टता ने रचना के शिल्प को भी प्रभावित किया है। अतः आदिवासी समाज को आधार बनाकर लिखी रचनाओं के शिल्प–योजना पर गौर करने की आवश्यकता है। जिससे शिल्प–योजना की अनिवार्यता और विविध तकनीकों की उपयोगिता का मूल्यांकन किया जा सके। कथा–साहित्य की

---

[1] राजनीतिशास्त्र के सिद्धांत : बैकुण्ठ नाथ सिंह,पृ. 159–160.

शिल्प–योजना का विवेचना करने का अर्थ उस कौशल का उद्‌घाटन करना है, जिससे उसके रूप या आकार की निर्मिति हुई है। हम जानते हैं कि हर उपन्यास का एक रूप होता है, पर वह स्थापत्य या मूर्त्ति की तरह दिखाई नहीं पड़ता। वस्तुतः वह पाठक की चेतना में ही बनता और केवल अनुभवगम्य होता है। वह छाया की तरह अस्पृश्य और गतिशील होता है। उसे पकड़ना छाया को पकड़ने की कोशिश करने के समान है। पर यह कोशिश बेकार नहीं है, क्योंकि इस कोशिश से उपन्यास के सौंदर्य शास्त्रीय अनुभव को समझने में मदद मिलती है।

पाठक की चेतना में रूप ग्रहण करते हुए उपन्यास को अनुभव करने के लिए पाठकीय बोध ही एकमात्र सहारा होता है। मूल प्रश्न यह है कि पाठक किस प्रकार उपन्यास के रूप को ग्रहण करता है? वह किस स्थान से उपन्यास के निर्मित होते हुए छाया–रूप का अवलोकन करता है और उसे किसकी आंखों से देखता है? यही कारण है कि उपन्यास–शिल्प के विवेचन में अवलोकन–बिंदु (पॉइंट ऑफ व्यू) का महत्व बहुत अधिक होता है। अतः यदि देखा जाय तो उपन्यास–शिल्प की दो अत्यंत प्रचलित प्रविधियां 'दृश्यात्मक' और 'परिदृश्यात्मक' नाम से जानी जाती हैं। "दृश्यात्मक प्रविधि में पाठक बोध के धरातल पर उपन्यास में घटित किसी प्रसंग या दृश्य के बिल्कुल पास होता है और उस घटित होते हुए दृश्य तथा चलते हुए वार्तालाप को खुद देखता–सुनता है। पाठक और दृश्य के बीच उपन्यासकार या कथाकार की उपस्थिति नहीं होती। 'परिदृश्यात्मक' प्रविधि में पाठक की चेतना के समक्ष एक फैला हुआ दृश्य या अतीत का विस्तार होता है, जिसे वह उपन्यासकार द्वारा प्रदत्त ऊँचाई और दूरबीन से देखता और अनुभव करता है। उपन्यासकार अक्सर इन प्रविधियों का मिश्रण और उन्हें नाटकीय मनःचित्रात्मक और अंतश्चेतना में प्रवेश की प्रविधियों से समृद्ध करता है। इनके मिश्रण और समेकन से प्रविधियों के असंख्य रूप निर्मित

हो जाते हैं, जिनका उपयोग उपन्यासकार अपने विषय की जरूरत और अपनी प्रतिभा के अनुसार करता है।"[2]

हिन्दी कथा साहित्य में आदिवासियों की अभिव्यक्ति कथा, साहित्य में शिल्प–योजना के महत्व को और बढ़ा दिया है। कथाकार या उपन्यासकार अपनी अभिव्यक्ति स्पष्टता तथा चित्रण में निखार लाने हेतु विविध तकनीकों का प्रयोग करता है। जैसा कि उपन्यासकार रमणिका गुप्ता ने उपन्यास 'मौसी' में पुनर्दीप्ति शैली का प्रयोग किया है "मौसी पुराने दिनों की याद में डूबती–उबती मन–ही–मन पूरा किस्सा दुहराती । मानो उसके भीतर कोई बाइस्कोप लग गया हो और वह घुमा–घुमाकर अपनी जिंदगी की तस्वीरें दिखाती जा रही हो, साथ–साथ बताती भी जा रही हो दर्शकों को। चूंकि बायस्कोप की तस्वीरें गूंगी होती हैं। बोलती नहीं वह।"[3] इस उपन्यास में ऐसा नहीं है कि पूरी कथा ही फ्लैश बैक में चलती है। लेकिन कथाकार जहां आवश्यक समझती है इसका उपयोग भरपूर करती है। इसके साथ ही कथाकार ने रचना को धारदार बनाने हेतु 'नरेटर' का भी काम किया है। जैसा कि वह बताती है कि "मौसी तो आदिवासी समाज की मुक्त महिला थी।... औरत के नाते समर्पण का संस्कार तो उसमें भी था, लेकिन उसके आदिवासी आदिम समाज के मूल्यों के नाते, एक बच्चे को पालने की जबान दे दी। यह 'जबान' यह 'वचन' उसके लिए अहम था। यह मूल्यों का आदर ही उसकी सादगी का परिचायक है। यही आदिवासी समाज को दूसरों से अलग करता था।"[4] यहां पर कथाकार को लगता है कि बिना नरेटिंग के आदिवासी समाज की भावनाओं को मुखर रूप से उकेरना मुश्किल कार्य है। इसलिए जहां भी उनको लगा कि उन्हें बीच में आने की जरूरत है तो आकर नारदमुनि की भूमिका अदा करती हैं। यह अत्यावश्यक भी था, 'क्योंकि आदिवासी समाज में

---

2 उपन्यास की पहचान : मैला आंचल– गोपाल राय,पृ.59.

3 मौसी : रमणिका गुप्ता, पृ.13 .

4 मौसी : रमणिका गुप्ता, पृ.27.

अनेक पात्रों का संवाद संभवतः अपनी भाषा में होगी। अतः उनकी कार्य–व्यापार को समझना पाठकों के लिए मुश्किल काम था। इसलिए कथाकार पाठकों को पाठ समझाने में दिक्कत नहीं हो इसके लिए वाचक प्रणाली का सर्वाधिक प्रयोग किया गया है। जैसा कि "ऐसे भी मजदूर वर्ग खासकर आदिवासी लोग 'कुल' की योजना बनाने के आदी नहीं होते। वह प्रकृति और उसकी बनाई योजना पर निर्भर करता है। प्रकृति की ही नहीं, अपनी मेहनत पर भी पूरा विश्वास रहता है। इनकी खेती, महुआ, सखुआ, जंगल–कटाई, सब का समय प्रकृति द्वारा निर्धारित है। समय पर महुआ–सखुआ फलेगा–फूलेगा–टपकेगा। समच पर बरखा आएगी – धान रोपेंगे या छीटेंगे। कटनी–निकोनी करेंगे। घर धान से भरेगा – बड़ी लौंकी, कद्दू से और निनुआ से। गाय, बकरी बियायेगी। दूध और मांस मिलेगा। सब नियम–बद्ध सा चलता है। जीवन भी उनका केवल आज पर निर्भर करता है, कल पर नहीं। वह नहीं सोचते कल सूरज उगेगा या नहीं आज वर्षा हुई है.....चलो, हल जोतेंगे।"[5] इस प्रकार की नियतिवादी प्रकृति आदिवासियों में पाया जाना कोई नई बात नहीं है। कहा जा सकता है कि यह प्रवृत्ति पूरे समाज के उन्नति का सबसे बड़ा अवरोधक बना हुआ है। जैसाकि "इस वर्ष वर्षा नहीं हुई–अकाल पड़ा है–भूखे मरना है–या देश छोड़कर परदेश में काम की खोज में जाना है, चलो परदेश चलेंगे। दिनचर्या में खलल पड़ना–उसे स्वीकार करना, उसकी आदत है। कल काम नहीं मिलेगा तो लौट आएंगे भूखे–उपासे। बस भीख नहीं मांगेंगे–जंगल से गड़े उखाड़कर खाएंगे–मर भी जाएंगे–जैसे जंगल में गाछ मरते हैं, खेत में फसल। बादलों के लिए आकाश अगोरेंगे। जैसे–जानवर और पंक्षी अगोरता है–पपीहा और मोर अगोरता है। बादल बरसेगा तो यह भी चहकेंगे–फुदकेंगे, जैसे चिड़िया चहकती है, फुदकती है। पर कल क्या होगा? यह नहीं सोचते।"[6] इसी प्रकार रचनाकार आगे बताती है कि "जैसा समय वैसी इनकी जीवन–शैली। चिंता

---

5 मौसी : रमणिका गुप्ता, पृ.60.

6 मौसी : रमणिका गुप्ता, पृ.61.

मुक्त है। कल क्या होगा, इसकी फिक्र नहीं। आज अस्तित्व है बस आज जियो–इसे सुरक्षित रखो। कल बाद में आएगा। उसकी सोच, आज क्यों? मौत के बारे में नहीं सोचते यह लोग। मौत आती है–आनी है–आएगी। उस पर सोचना बेकार है।"[7] इस उपन्यास को पढ़ते वक्त ऐसा लगता है कि इसे पढ़ा नहीं जा रहा है बल्कि कहानी सुना जा रहा है। जैसाकि "परिदृश्यात्मक प्रविधि में कथाकार और पाठक का साथ बना रहता है। चाहे वो किस्सागो और कथा–श्रोता के रूप में हो, वर्णनकर्ता और पाठक के रूप में हो या प्रस्तुतकर्ता और ग्रहीता के रूप में हो। श्रेष्ठ उपन्यास में उपन्यासकार नरेटर के रूप में भी अपने को अप्रत्यक्ष बनाने की कोशिश करता है, वह अपने को पाठक के समक्ष सर्वज्ञ, सर्वातिशायी और आसन्न उपस्थित रूप में नहीं रखना चाहता। वह कथा कहने के बदले उसे प्रस्तुत करता है। पाठक कथाकार से कथा सुनता नहीं, बल्कि प्राप्त करता है।"[8] लेकिन 'मौसी' उपन्यास को पढ़ते हुए लगता है कि कथाकार नरेटर के रूप में अपने को बार–बार सामने लाता है और उन पात्रों की जुबानी बयान करती है। बीच–बीच में अपनी प्रशंसा करने से भी नहीं चुकती है। इसलिए उपन्यास अच्छा होने के बावजूद लगता है कि कथाकार अपने पात्रों पर अहसान कर रही है, जिससे उपन्यास की महत्ता को कम करने का कार्य करती है। हालांकि कथाकार का कहने का अंदाज प्रभावकारी प्रतीत होता है। "पूरी जवान उम्र 'तीसेक बरस' कड़ी देह–काठी, सुघड़ काली पर चमकती चमड़ी। चपटी नाक पर दूर तक सूंघ लेने की सक्षम, आदमी और जानवर दोनों की गंध पहचानने वाली। जमीन की गंध से वाकिफ, पैसों की गिनती–सीखी हुई, जोड़–घटाव में भी माहिर। इतनी उमिर तक अपना बच्चा नहीं हुआ था। अब क्या होगा? सो जिसके घर जाएगी उसे वारिस का खतरा नहीं होगा। ऐसी भी रखनियों की औलाद को लोग वारिस

---

[7] मौसी : रमणिका गुप्ता, पृ.61.

[8] उपन्यास की पहचान : मैला आंचल– गोपाल राय,पृ.60.

नहीं मानते।"[9] ऐसा लगता है कि काथाकार को एक ऐसी औरत की तलाश थी जो थोड़ा पढ़ा–लिखा हो, शारीरिक सुंदरता भी हो, थोड़ी चलाकी भी जो मुख्यधारा के लोगों के लिए सुयोग्य रखैल की भूमिका अदा कर सके। ऐसा लगता है कि मौसी को एक जबर्दस्त पात्र बनाया गया है, जो है नहीं, उसको भी दिखाया गया है। 'मौसी' उपन्यास में कथाकार ने परिदृश्यात्मक प्रविधि का भरपूर उपयोग किया है। जैसाकि मोहना के कथन से प्रतीत होता है। "मौसी को भी क्या हो गया? क्यों इस दुसधवा पर मरती है? बिरादरी में भी बात उठ रही है। ठाकुर या मियां की बात दूसर थी, पर दुसाध के साथ आदिवासी औरत?"[10]इस प्रकार कहीं–कहीं दृश्यात्मक प्रविधि का प्रयोग मिलता है, अन्यथा लगभग सभी जगह परिदृश्यात्मक का प्रयोग मिला है। इसमें कथाकार ने ही लगभग पूरी कहानी सुनाई है। उपरोक्त उद्धरण से इतना तो स्पष्ट है कि लेखिका आदिवासी क्षेत्रों में रहने के बावजूद आदिवासियों को समझ नहीं पाई है। क्योंकि कम से कम झारखंड के आदिवासी अपने को किसी से कम नहीं समझता है और न उस क्षेत्र में ठाकुरवाद या बाबू साहब की प्रवृत्ति का चलन है। यह बाबू साहब की प्रवृत्ति उत्तरी बिहार या अन्य क्षेत्रें की प्रचलित हो सकती है लेकिन झारखंड के आदिवासियों में ऐसा कुछ प्रचलन में नहीं है। आज भी यदि झारखंड के आदिवासियों से पूछा जाय कि बाबू साहब क्या होता है? तो उनको समझ में नहीं आएगा कि वह किस बला का नाम है। इन आदिवासियों को तो मात्र दीकू शब्दों का ज्ञान है, जिसका मतलब ही होता है ठग, धोखेबाज और अवसरवादी चरित्रों से परिपूर्ण गैर आदिवासी।

'सीता' उपन्यास को पढ़ते वक्त ऐसा प्रतीत होता है कि पाठक के सामने दो पात्र आपस में वार्तालाप कर रहे हैं। "एसन बात मत कह, पाप लगतै? हमर बाप के नाम तोहार बेटी के बाप पर कैसन लिखतै? तु पागलाय गल की? दूसर

---

[9] मौसी : रमणिका गुप्ता, पृ.49.

[10] मौसी : रमणिका गुप्ता, पृ.68.

बेटी के तो आपन नाम देलय, अब आपन बेटी के नाम देय बखत काहे झंझट कर रहल हय तू?"[11] इस प्रकार यहां प्रतीत होता है कि पाठक सामने बातचीत हो रही हो, यहां कलाकार की कोई उपस्थिति नहीं है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण को लेकर विचार किया जा सकता है। इसमें सीता यासीन को बता रही है कि पति ने किस प्रकार हमें संकट में डालकर भाग गया। "जन्म–जला अपने तो भागय गेलैं, और आपन औलाद के हमर खातिर छोड़ गेय। हम केने–केने (कहां–कहां) देखबै! बचिया बीमार हले, तबै एक हफ्ता नागा बेशी (अधिक) हो गेल। जै पैसवा हले, ओझा के दिया गेल, बचिया पर छाया (प्रेत छाया) के दूर करे खातिर। अब तो उपासे ही रहे पड़ते। गीदरवन (बेटियों) की फिकर है मुंशी बाबू, हमनी तो खायल बिना भी गुजर कर सकि हयै।"[12] यहां कथाकार ने दृश्यात्मक प्रविधि के द्वारा कथा को प्रस्तुत ही नहीं किया है बल्कि उसे नाटकीय भी बना दिया है। ऐसा प्रतीत होता है सीता और यासीन (रंगमंच पर वार्तालाप कर रहे हों) के बीच बातचीत का कार्य–व्यापार रंगमंच में हो रहा है। पाठक दर्शकों की भांति उनकी कार्य–व्यापार को देख रही है। रंगमंच पर सीता का हाव–भाव को देखकर लगता है कि इसकी मंचीयता सफल हो उठी है। जैसे कि 'सीता के आंखों में आंसू थे' और इसके साथ ही साथ सीता के चेहरे में मर्द पर गुस्सा भी था। इस प्रकार की हाव–भाव की भंगिमा लिए सीता का शब्द–व्यापार भी परिस्थिति अनुकूल ही है। जैसे कि पति को गुस्सा को गाली जैसे शब्दों के साथ प्रयोग करती है 'जन्म–जला अपने को भागय गेल' यहां सीता को पति के भागने का तो दुख है लेकिन उससे भी ज्यादा दुखद बात यह है कि अपनी औलाद को पत्नी के भरोसे छोड़ भाग गया। आदिवासी समाज में पति–पत्नी के तलाक होने पर बच्चा पिता के सुपुर्त कर दिया जाता है। क्योंकि वही पिता का वारिश बनता है, यदि मां के साथ कहीं और जाती है तो वह लाभ उसे नहीं मिलता है।

---

[11] सीता: रमणिका गुप्ता, पृ.34.

[12] सीता: रमणिका गुप्ता, पृ.27.

'सीता' उपन्यास को पढ़ते हुए लगता है, पात्रों के मध्य कार्य–व्यापार सामान्य गति से चल रही है। लेकिन इसके साथ ही पात्र विभिन्न भाव–भंगिमाओं में अपना कार्य व्यापार जारी है, जब पात्रों के माध्यम से होने वाले शब्द व्यापार या कार्य–व्यापार स्पष्टता पूर्ण नहीं होती है तो कथाकार नेपथ्य में आकाशवाणी करते प्रतीत होती है। इस प्रकार आवश्यकतानुसार वर्णन–कर्त्ता समय–समय पर नरेटर का भी काम करती है। लेकिन इनकी उपन्यासों में नाटकीयता बहुत सशक्त रूप में प्रकट हुई है। जैसाकि 'सीता' द्वारा यासीन के साथ रहने के फैसले से माता सुमित्रा तिलमिला उठी थी। "सुमित्रा सबको कहती फिरती–जादू कर दिया है। यासीन मियां ने हमर सीता पर । कोई गंडा–ताबीज किसी मौलवी से करवाकर उस पर फेंक दिया है, तभी तो पगला गई है। न जाने नासपीटा कौन जड़ी–बूटी खिलाय देल है हमर कोयल जैसन बैटी के, कि भयर दिन (भर दिन) यासीन मियां का नाम लेत रहल हय।"[13] इस प्रकार दृश्यात्मक प्रविधि कहीं–कहीं दिखाई पड़ती है। ऐसा लगता है कि जहां कार्य–व्यापार में अवरोध पैदा होता है तो वहीं परिदृश्यात्मक प्रविधि का प्रयोग होता है। इसी प्रकार यदि 'सूरज किरन की छांव' में राजेंद्र अवस्थी की रचना कुशलता पर गौर करें तो पाते हैं कि इन्होंने भी कहीं–कहीं पूर्वदीप्ति पद्धति के प्रयोग से परहेज नहीं किया है। जैसाकि बंजारी कल्पना लोक में खो जाती है। "मैं सब भूल गई जब उसने अपने नन्हे गुँह को मेरी छाती से लगा दिया। उसका वह स्पर्श, कितना सुखद स्पंदन था उसमें। कितनी शीतलता, कितनी शांति। मन की वर्षों की प्यास जैसी पूरी हो रही थी... मां का सुख अब मेरे पास था। सोचने लगी–यह बड़ी होगी, मां कहकर पुकारेगी, मैं अपनी गोद में लेकर उसे जंगल–पहाड़ घुमाऊँगी। जब जोसेफ दौर पर जाएगा, तो यह मेरे साथ रहेगी, तब ग्रेसरी की मुझे जरूरत नहीं पड़ेगी। इसकी हंसी और किलकारियों से घर का कोना–कोना भर जाएगा। मैं अपने गांव

---

[13] सीताः रमणिका गुप्ता, पृ0–29.

जाऊँगी, आवा से कहूंगी.... मेरे घर का धुंधला सा चित्र मेरे सामने आ गया। आवा चूल्हा फूंक रही है, तापे खटिया में बैठा चिलम फूंक दिया, तो बड़े बीर ने चांटा दे मारा। आवा दौड़ी आयी, शरम नहीं आती, छोटी लड़की भला, क्या समझे। उसने उसे छाती से चिपका लिया। यहां–वहां घूमकर लोरी गाने लगी।

परजा दुलारी हानी हानी, कजरा री कोयला,

बदरा छिपिस चांद अमरित वीर ला टोलरा।"[14]

(हे दुलारी बेटी, धीरे–धीरे सो जा, मैं कोयल से कागज छीनकर लाई हूँ। आज का चांद बादल में छिपा है। लेकिन फिर भी बड़े वीर अमृत छीनकर लाएंगे।) कितना अच्छा रस भरा है यह गीत। एक–एक शब्द से महुए जैसे लोदा टपक रही है वह गोद में सो गयी, फिर आवा ने खटिया की बाजू डाल दिया – कल्पना में थी कि मरियम ने मुझे पुकारा। उसने मुझे एक गोली दी, बोली, बस–दो–तीन–दिन बचे हैं फिर घर चली जाओगी। इसके माध्यम से कथाकार नारी संवेदना को बहुत ही बारीकी से उकेरने का प्रयास किया है। इसके लिए लंबी स्वप्न का सहारा लिया गया है। मनोविज्ञान कहता है कि आदमी जिस चीज को प्राप्त नहीं कर पाता है उसे स्वप्न में मिल जाता है। बंजारी के साथ भी यही होता है कि उसे पुत्र सुख नहीं मिल पाता है। इसीलिए कथाकार बंजारी को पुत्र के क्षणिक सुख के बहाने फ्लैश बैक में ले जाती है। लेकिन मरियम के पुकारने के साथ सारी कल्पनाएं रेत की दीवाल की तरह ढह जाती है। इस उपन्यास में उपन्यासकार ने कई जगह कल्पना और स्वप्न का सहारा लिया है। औपन्यासिक शिल्प के प्रसंग में विचारणीय प्रश्न यह भी होता है कि लेखक के साथ पाठक का संबंध किस प्रकार का है। राजेंद्र अवस्थी ने उपन्यास 'सूरज किस की छांव' में आत्मकथात्मक शैली का भरपूर प्रयोग किया है। ऐसा लगता है कि बंजारी के जीवन में घटित–घटनाओं को आधार बनाकर उपन्यास लिखा गया है। क्योंकि

---

[14] सूरज किरण की छांव : राजेन्द्र अवस्थी ,पृ.77

बंजारी के जीवन की कली से प्रस्फुटन तक की जिंदगी की विविध घटनाक्रमों को कथाकार ने बहुत ही सलीके से लिखा है। पात्रों का संवाद–व्यापार इतना तारतम्य और सटीक प्रतीत होता है कि पाठक रंगमंच की दर्शक की तरह देखता रह जाता है। कथाकार पाठक को सोचने के लिए विवश कर देता है। आज भी कई बंजारी जैसी कई लड़कियां समाज में संघर्षरत है।

कथा प्रस्तुतीकरण हेतु दृश्यात्मक प्रविधि और परिदृश्यात्मक प्रविधि तो था ही, लेकिन रेणु ने एक और प्रविधि का बहुत सफल उपयोग किया है। इसमें कथाकार अपने को पात्रों की चेतना से इस प्रकार जोड़ते हैं कि दोनों का अंतर मिट जाता है और कथा में एक अपरिचित नया स्वाद आ जाता है। रेणु जी में किस्सागो नरेटर – कथा प्रस्तुतकर्ता – सभी रूप एक साथ दिखाई पड़ते हैं। जैसाकि "कहीं–कहीं उपन्यासकार अपने प्रकृत रूप में भी सामने आता है। उन्नीसवें परिच्छेद का आरंभ नाटकीयता के पुट से ही होता है, पर लगभग तीन पृष्ठों तक की कथा पाठक को उपन्यास–लेखक के अवलोकन बिंदु से प्राप्त होती है।"[15] और यह इस कथांश की भाषा से भी स्पष्ट है : "अंग्रेज कलक्टर की तुरंत बदली हे गया। बहुत से संताल सरकारी गोली से घायल हुए और सैकड़ों ने बिहार के विभिन्न जेलों में सफैया कमान में काम करते–करते सारी उम्र बिता दी। उसके बाद फिर कौन चूं करता है। लेकिन मानर और डिग्गा की आवाज कभी मंद नहीं हुई; बांसुरी कभी मंद नहीं हुई और न उनके तीरों में जंग लगे। आज भी कभी–कभी बनैले जानवरों के शिकार के समय सूरज की किरणों में चमकदार चकाचौंध पैदा कर देते हैं, इनके तीर।"[16] इसके साथ ही रेणु जी को सुरताल का ज्ञान होने से कथा की प्रस्तुति में इनका मौलिक सृजनात्मक उपयोग प्रशंसनीय है। चाहे अखाड़े की मृदंग वादन हो या हो संथालों की नगाड़ा और मानर की मंद आवाज कथाकार को इसकी अच्छी समझ थी। जैसा कि –

---

[15] उपन्यास की पहचान : मैला आंचल– गोपाल राय,पृ.62–63.

[16] मैला आंचल : फणीश्वरनाथ रेणु ,पृ. 102–103.

"मानर की मंद आवाज... रिंग रिंग ता धिन–ता।

डिग्गा की अटूट ताल... डा डिग्गा, डा डिग्गा।"[17]

अतः कहा जाएगा कि रेणु जी आदिवासी समाज और शिल्प के अंतःसंबंध की प्रस्तुति में सफल रहे हैं। पूरे रचना में उन्होंने मृदंग वादन, अभिनय, गीत, और ग्रामीण दर्शकों की प्रतिक्रियाओं को ध्वन्यात्मक प्रभाव के साथ–साथ दृश्यात्मक बना दिया है।

(ख) लोक–संस्कृति के सृजनात्मक धरातल

हम सभी जानते हैं कि "आदिवासी समाज जंगलों के भीतर अपनी ही संस्कृति में जीता रहा और जीता है। देश की संस्कृति और धर्म के भीतर वास्तविक रूप में वह कभी भी नहीं रहा। देश की संस्कृति मनुवादी सोच पर आधारित शोषणोन्मुखी थी। आदिवासी समाज ने इसे कभी नहीं माना। वह कबीला संस्कृति में रहा है। सरना के पेड़ों को पूजता रहा, सभी को बराबरी के दर्जे पर रखता रहा, उसी में सुधार करता रहा। बाहरी हमलों को रोकता रहा, झेलता रहा, देखता रहा।.....बाहरी संस्कृति में रहता–जीता, पर अपने घर लौटने पर सरहुल–सरना–हंडिया कभी न भूलता।"[18] यह सच है कि आदिवासी समाज में मुख्यतः उराँव, मुंडा, हो, संथाल और खड़िया आदि आदिवासी बाहर संस्कृति से प्रभावित नहीं हुआ है ऐसी बात नहीं है। उनकी अपनी संस्कृति में कुछ बदलाव तो अवश्य आया है, जैसाकि "झारखण्ड में मुण्डारी, संथाली और खड़िया का भाषा–भंडार और नागपुरिया बोली की लोकसंस्कृति एक–दूसरे में खूब घुलमिलकर एकमऐक हो चुके हैं। विभिन्न बोलियों के मिश्रण ने एक नया भाषा–संस्कार निर्मित कर दिया है जिसे आत्मसात् कर चुका है मुण्डा समाज।....परन्तु पर्वों–त्योहारों या धार्मिक अनुष्ठानों के गीत या मन्त्रोच्चार अभी भी अपनी

---

[17] मैला आंचल : फणीश्वरनाथ रेणु ,पृ. 100.

[18] मौसी : रमणिका गुप्ता, पृ.61.

पारम्परिक मूल भाषा में ही बने हुए हैं।''[19] सरहुल और सरना पर्व झारखंड के आदिवासियों को पहचान देती है लेकिन इन त्योहारों में हंडिया नामक नशीली पेय का प्रचलन समाज की सबसे बड़ी कमजोरी है। आदिवासी समाज अब 'हंडिया' जैसी नशीली पेय को भूलने लगी है जिससे इसका उपयोग आजकल कमतर हो गया है। आदिवासी समाज में यही 'हंडिया' उनके विकास का सबसे बड़ा बाधक है, क्योंकि इसको संस्कृति के साथ जोड़कर जबर्दस्त न्यायसंगत बनाने का अनर्थक प्रयास करते हैं, जैसाकि ''हड़िया और महुआ आदिवासी जीवन से जुड़े दो मिथक बन गए हैं। पारम्परिक रूप से आदिवासी त्योहार में अपने पूर्वजों को हड़िया 'पूजा' के रूप में चढ़ाते हैं। विशेष पूजा स्थल, जिसे 'जोहार थान' कहा जाता है, वहाँ भी विभिन्न अवसरों पर 'हड़िया' चढ़ाया जाता है।''जिससे आदिवासी समाज में नशाखोरी की प्रवृति बढ़ती ही जा रही है। इसीलिए सभ्य समाज का यही प्रयास रहना चाहिए कि आदिवासियों के संगठन और विविध समिति के सम्मिलित प्रयास से इसको बंद करने का प्रयास की जानी चाहिए। जिससे आदिवासी समाज का विकास और उन्नति हो सके। यह सर्वविदित है कि आदिवासी समाज "सखुआ और महुआ पर आश्रित हैं। वह बैरागी बनकर विमुख नहीं होता न अपने से, न अपने परिवार से, न दुनिया से। वह भाग्यवादी सोच का शिकार नहीं बना। इसलिए गुलाम नहीं बना सके उसे हमलावर लोग। न देश पर हमला करने वाले न संस्कृति पर वार करने वाले, न मिशनरियों का धार्मिक मठों, आश्रमों के माध्यम से धार्मिक हमला करने वाले ही उसे उसकी जीवन–शैली से, प्रकृति–प्रेम से, अस्तित्ववादी सोच से विमुख कर पाए। पर इधर अपसंस्कृति का हमला बड़ा जोश–खरोश से सर उठा रहा है।"[20] इसके साथ ही आदिवासी समाज माफिया रंगदारों को झेलते–झेलते, उनके खिलाफ, लड़ते–लड़ते, इनकी युवा पीढ़ी अब स्वयं रंगदारी के रूआब–दबाव, उसकी पैंतरेबाजी अपनाने लगी है। हम सभी

---

[19] पठार पर कोहराः राकेश कुमार सिंह, पृ0–200.

[20] मौसी : रमणिका गुप्ता, पृ.62.

जानते हैं कि आदिवासी सादगीपूर्ण जिंदगी गुजर–बसर करने पर विश्वास करते हैं। जैसाकि "आदिवासी समाज की खासियत ही है उनका समूह में जिंदा रहना। उनका सामूहिक आचरण और समूह जब टूटता है, बिखरता है, तो उनका हश्र बहुत बुरा होता है। उसके मूल्य भी बिखर जाते हैं। आदिवासी समाज के साथ यही हादसा घट रहा है। उनका सामूहिक जीवन टूट रहा है। बढ़ता औद्योगीकरण, शहरीकरण उनकी ग्रामीण सामूहिकता को नष्ट कर रहा है।"[21] इसके साथ ही आदिवासी लोक–संस्कृति को नष्ट कर रहा है। हालांकि खदानों में कारखानों में दंगलों के रूप में एक साल रहकर काम करना और एक झोपड़पट्टी के धौड़ों में एक ही साथ रहना। एक अलग किस्म की सामूहिक जिंदगी ही है। दरअसल यह सामूहिकता अर्थवाद से अधिक जुड़ी है। जबकि ग्रामीण या जंगल का सामूहिक जीवन जिंदगी से जुड़ा होता है। अतः यदि हम कहें कि आदिवासियों का संस्कृतिकरण हो रहा है, इसका अर्थ है कि आधुनिक समय और मांग के अनुसार अपने को बदल रहा है। भले ही उनकी संस्कृति से भिन्न होने के कारण अच्छा नहीं माना जाता है। क्योंकि मुख्यधारा की संस्कृति का अनुशरण करने वालों की संख्या सर्वाधिक है और वही संस्कृति का मूल्यांकन करने वाला भी है। अतः आदिवासी भी इन संस्कृतिकरण की प्रकिया से छूट नहीं सकते क्योंकि यह आधुनिकता की मांग है। हम सभी जानते हैं कि संस्कृतिकरण का तात्पर्य किसी समूह की संस्कृति से दूसरे समूह की संस्कृति का प्रभावित होना है। जैसाकि कुछ विद्वानों का विचार है कि संस्कृति के प्रसार को ही संस्कृतिकरण कहते हैं। इन दोनों विचारों से परे 'श्रीनिवासन' ने संस्कृतिकरण शब्द का प्रयोग ऐसी स्थिति के लिए किया है जिसमें किसी निम्न जाति के व्यक्ति उच्च जातियों के विचारों और व्यवहारों को ग्रहण करके अपनी जीवन–पद्धति को बदलने लगते हैं तथा इस प्रकार संपूर्ण सामाजिक ढांचे में पहले से उच्च सामाजिक स्थिति पाने

---

[21] मौसी : रमणिका गुप्ता, पृ.63.

का दावा करने लगते हैं। इसी प्रकार संस्कृतिकरण अथवा पर–संस्कृति ग्रहण ने वास्तविक अर्थ को स्पष्ट करते हुए मजुमदार और मदन का विचार है कि "जब संस्कृति के कुछ तत्व अथवा प्रतिमान दूसरी संस्कृतियों में फैलने लगते हैं तब इसका तात्पर्य केवल 'सांस्कृतिक–प्रसार' (Diffusion) से होता है, लेकिन जब किसी दूसरी संस्कृति के प्रभाव से एक समूह का संपूर्ण जीवन परिवर्तन की प्रक्रिया में आ जाता है, तब इस स्थिति को हम संस्कृतिकरण कहते हैं।"[22] इस प्रकार संस्कृतिकरण की प्रक्रिया से सात्मीकरण को प्रोत्साहन मिलता है। लेकिन ऐसा हमेशा होता है यह आवश्यक नहीं है। यह सर्वविदित है कि आज संसार की कोई भी संस्कृति पूर्णतया विशुद्ध नहीं है तथा अनेक समूहों पर दूसरे सांस्कृतिक समूहों का इतना अधिक प्रभाव पाया जाता है कि उसकी संस्कृति में आमूल परिवर्तन की स्थिति उत्पन्न हो गई है। ऐसे में आदिवासियों का संस्कृतिकरण कैसे बचा रह सकता है। यह संभव है कि जो मुख्यधारा से कटे रहे या अलग रहे, उनका भले संस्कृतिकरण कम हुआ हो, लेकिन देश का कोई भाग ऐसा नहीं, जहां कोई भी संस्कृति विशुद्ध रूप से बची हो। इसके साथ ही यह सत्य है कि भारतीय जनजातियों की सबसे प्रमुख समस्या संस्कृतिकरण की समस्या ही रही है।

हम जानते हैं कि भारत में ब्रिटिश शासन के समय सबसे पहले, जनजातियों के सांस्कृतिक जीवन में हस्तक्षेप की प्रक्रिया आरंभ हुई। इस समय ईसाई मिशनरियों ने जनजातीय क्षेत्रों को अपने धर्म का प्रसार करने के लिए सबसे उपयुक्त समझा। फलस्वरूप जनजातीय क्षेत्रों में अनेक ईसाई मिशनरियां काम करने लगीं। जनजातियों का जीवन निर्धन तो था ही, इसलिए जब मिशनरियों ने उनके बीच अनाज, कपड़े और औषधियां बांटना शुरु किया तो जनजातियों का उनको ओर आकषित होना स्वाभाविक था। इन लोगों ने ईसाई

---

[22] एन. इन्ट्रोडक्शन टू सोसल एन्थ्रोपोलॉजी :मजूमदार एण्ड मदान ,पृ.27.

धर्म को स्वीकार किया। इसके साथ ही वे लोग उनकी रहन–सहन तथा जीवन–पद्धति को अपनाया। उनकी तरह पर्व, त्यौहारों को मानने लगे जिससे आदिवासी संस्कृति का या तो विलुप्त होना शुरु हुआ। मिशनरियों के बढ़ते प्रभाव से चिंतित होकर अनेक संगठनों ने भी जनजातियों के बीच अपने–अपने धर्मों का प्रचार कार्य आरंभ कर दिया। इसके फलस्वरूप कई जनजातियों ने हिंदु धर्म ग्रहण किया। हिंदू धर्म के प्रभाव से जनजातियों में भी जाति–व्यवस्था के तत्व विकसित हो गए। वे देवी–देवताओं की पूजा करने लगे और अपने जनजातीय समूहों को छोड़कर आजीविका व शिक्षा के लिए नगरों में आकर रहने को आकर्षित हुए। इसके पश्चात् भी आदिवासियों ने हिंदू संस्कृति के तत्वों को वहीं तक अपनाया जिसकी उन्हें आवश्यकता थी। यह सच है कि हिंदू समाज किसी भी दूसरे समाज पर अपनी संस्कृति को थोपने के प्रति सदैव उदासीन रहा है। यही कारण है कि आदिवासियों पर हिंदू संस्कृति का प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा सका जितना कि ईसाई संस्कृति का।

अतः कहा जा सकता है कि आदिवासी समाज में ईसाई व हिंदू संस्कृति के प्रभाव से अनेक विषम समस्याएं उत्पन्न हो गयी। अधिकांश आदिवासी समाजों के विश्वासों, धर्म, पारिवारिक व्यवस्था, विवाह पद्धति, रहन–सहन, वेश–भूषा और व्यवहार प्रतिमानों में इतना परिवर्तन हो गया कि आज वे अपनी मौलिक संस्कृति का बिल्कुल भी प्रतिनिधित्व नहीं करते। इस प्रकार आदिवासियों में हिंदू तथा ईसाई संस्कृति के प्रभाव के कारण जो प्रभुख समस्याएं उत्पन्न हुईं हैं, इसके परिणामस्वरूप आज आदिवासी समाज के इसी विविधता का लाभ विभिन्न राजनीतिक दल उठाना चाहते हैं। हिंदू मतवादी राजनीतिक दल आदिवासियों को अपने संस्कृति और अस्तित्व की बात को लेकर प्रोत्साहित कर रहे हैं। इसी संस्कृति को साथ लेकर, अलग पहचान बनाए रखने को प्रेरित रहे हैं। लेकिन जो आदिवासी ईसाई धर्म को अपना लिए हैं और अपनी जीवन–पद्धति को भी उसी

के अनुरूप ढाल लिया है, वे अपनी मूल संस्कृति को भूल गए हैं। यदि झारखंड, उड़ीसा, बंगाल और गुजरात के आदिवासी क्षेत्रों में देखें तो आदिवासियों के मध्य और गैर ईसाई आदिवासी और ईसाई आदिवासियों का अंतर सहज महसूस किया जा सकता है। कभी–कभी तो यही आर्थिक अंतर आदिवासियों में फूट का कारण भी बना है। कई क्षेत्रों में आपसी कलह खून–खराबा तक हुई है। झारखंड के आदिवासियों की सामाजिक और प्रशासनिक संरचना को देखे तो पाते हैं कि झारखंड के आदिवासी समाज में उनको स्वशासन का अधिकार प्राप्त है। इसके साथ ही संस्कृति के विविध कार्यक्रमों के संचालन और आर्थिक अर्जन हेतु जमीन सरकार की ओर से दिया गया है। जिससे कि वे इस उत्पादित धन से उस कार्यक्रमों को खर्चा चला सके, इसके साथ ही गांव वालों का स्वागत कर सके। आदिवासी संस्कृति में कुछ कर्मकांड भी हैं और यह संस्कृतिक का ही हिस्सा है। आदिवासी ईसाई धर्म के मानने वाले लोग इस कर्मकांड या कार्यक्रम को धार्मिक प्रतिषेध के कारण नहीं करते हैं। जो दोनों के आपसी झगड़े का मूल कारण बनता जा रहा है। यदि किसी आदिवासी ईसाई के पास इस प्रकार की जमीन है जो उनके पूर्वज चूंकि गैर–ईसाई थे इसलिए मिली थी। लेकिन उनके वंशों द्वारा ईसाई होने के कारण छोड़ा जा रहा है। विभिन्न राजनीतिक दल इस प्रकार की विकट समस्याओं का समाधान निकालने के बजाय और हवा देकर प्रज्जवलित कर रहे हैं और अपनी स्वार्थ परक रोटियां पक रही हैं। आदिवासी क्षेत्रों में जहां एक ओर विभिन्न धार्मिक रीति–रिवाजों से प्रभावित होकर आदिवासी लोक–संस्कृति परिवर्तनशील है वहीं आदिवासियों के निरंतर विस्थापन से "उनकी सांस्कृतिक पहचान खत्म हो रही है। जिन जंगलों में सदियों से उनका निवास रहा है, वे घट रहे हैं, छीने जा रहे हैं, जमीन से विस्थापित हो रहे हैं.....और उनकी भाषा व पहचान खत्म हो रही है। उनके द्वारा पहने जाने वाले वस्त्र, किए जाने वाले नृत्य इसी निगाहों से देखे जा रहे हैं। फलस्वरूप उनकी संस्कृति मिटती है, उनकी

पहचान भी समाप्त हो रही है।"[23] 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में उपन्यासकार राकेश कुमार सिंह ने झारखण्ड की संस्कृति की पहचान करते हुए लिखा है "सरजोम, सखुआ और करम के पेड़ों को भूलने का अर्थ है–झारखण्ड की संस्कृति को बिसरा देना"[24] इस प्रकार आदिवासी समाज अपने मूल स्थान से दूर होकर अपनी सांस्कृतिक पहचान खो रहा है।

आदिवासियों की लोक–संस्कृति में मांदर और नगाड़ा का महत्वपूर्ण स्थान है। रेणुजी को आदिवासियों के बाजे की अच्छी समझ थी। यही कारण है कि उसकी ताल को अच्छी तरह प्रस्तुत किए है। जैसे –

"डा, डिग्गा, डा–डिग्गा।

रिं–रिं– ता धिन – ता।"[25]

नगाड़ों की आवाज की प्रस्तुति के अनुकूल रेणु जी ने उसको शास्त्रीयता का पुट देते हुए डा. डिग्गा, डा. ग्गिा के रूप में शब्दानुवाद किया, वहीं मांदर को सुर और ताल को रिं–रिं–ता धिन–ता के रूप में शब्द संकेतित किया है। इनकी सृजनात्मकता से ऐसा प्रतीत होता है कि यह कोई साहित्यकार नहीं शास्त्रीय संगीत के विशेषज्ञ ने किया है।

हम जानते हैं कि प्रत्येक समुदाय की अपनी अलग सभ्यता और संस्कृति होती है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी सभ्यता और संस्कृति के अनुकूल आचरण करते हैं। जैसा कि स्वराज्य–प्राप्ति के उपलक्ष्य में आदिवासियों द्वारा मनाया जाने वाला उत्सव में भी उसकी संस्कृति का पुट मिलता है। जिसकी आवाज किसी को डराने वाला लगता है तो किसी को इस महोत्सव में कूद पड़ने वाला कर्णप्रिय ताल। सुमरितदास बेतार का कहता है कि "आज ये ही वे पराटिस कर रहे हैं.....लेकिन

---

[23] हिन्दी उपन्यास और आदिवासी स्त्री : आर.सी.मीणा, बूधन, अगस्त2003. पृ.12

[24] पठार पर कोहरा: राकेश कुमार सिंह,पृ0–222.

[25] मैला आंचल : फणीश्वरनाथ रेणु ,पृ. 221.

मांदर और डिग्गा की बोली सुनकर डर लगता है। हंसेरी के दिन तो ऐसा लगता था कि जमराज नगाड़ा बजा रहा है। और जमदूत सब उसी ताल पर नाचकर तीर चला रहे हैं।"[26] इससे प्रतीत होता है कि यह आदिवासी संस्कृति का एक रूप है। आज भी आदिवासी क्षेत्रों में तीर और नगाड़ा के संबंध को देखा जा सकता है। संथालों का पर्व 'सोहराय' के पर्वात में तीरंदाजी प्रतियोगिता आयोजित की जाती है। जो कि लोक–संस्कृति से जुड़ा हुआ है।

(ग) भाषा शैली के आंचलिक तथा लोक रंग/रूप

आदिवासियों की अलग सभ्यता और संस्कृति रही है। इसके साथ ही भाषा शैली की विविधता को भी आसानी से देखा जा सकता है। जैसाकि 'सानिया मूर्मू कालीचरन हर बात पर खिलखिलाकर हंसती है –हं हं हं हं हं हं..! सरगम के सुर में हंसती है सानियां! तीतर की आवाज की तरह हं हं हं हं....! पीछे की ओर झूलता हुआ रंगीन आंचल रह–रहकर चंचल हो उठता है, मानो नाचने के लिए मोरनी पंख तौल रही हो। उसके चरण थिरकने के लिए चंचल हो उठे हैं –

मनर की मंद आवाज ... रिंग–रिंग ता धिन–ता।

डिग्गा की अटूट ताल... डा डिग्गा, डा डिग्गा।

उनमुक्त स्वर लहरी... जोहिरे जोनबो, सोहिरे बोयबे।

मुरली की लय पर पायल का छुम–छुम, छन्न–छन्न।

डा डिग्गा, डा डिग्गा

रिंग रिंग ता धिन–ता।"[27]

यह लेखक की अभिव्यक्ति की विलक्षणता ही है कि उन्होंने आदिवासी कन्याओं की प्रकृति के साथ–साथ भाषा और लय की आंचलिक लोकरंग को सही

---

[26] मैला आंचल : फणीश्वरनाथ रेणु ,पृ. 221.

[27] मैला आंचल : फणीश्वरनाथ रेणु ,पृ. 100.

रूप में प्रस्तुत करने में सफल हुआ है। ऐसी सटीक अभिव्यक्ति समझ और अनुभूति के अभाव में नहीं हो सकती है।

हम सभी जानते हैं कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति में लोकगीतों का कितना महत्व है। लोकगीतों के माध्यम से मानव समाज को आसानी से समझा और परखा जा सकता है। लोकगीतों का अपना महत्व है, जो कालांतर से विद्यमान रहा है। लोकगीतों की महत्ता को समझते हुए लेखक का कहना है कि "संथाल टोली में मांदल बज रहा है –

सोनो रो रूप, रूपे रो रूप

सोनो रो रूप, लेका गातेञ मेनाय

गातेञ दिसाय रे सोना मुन्दाम

गातेञ उईहयर जीवी दो लोक तिञ।"[28]

सोना और चांदी के बीच मेरे प्रियतम का रूप सोने की तरह है। सोने की अंगूठी को देखकर अपने प्रियतम की याद आती है। प्रायः यह देखा गया है कि आदिवासियों में अत्यधिक लोभ और लालच नहीं होता है। वे 'संतोषमय परम सुखम' की सिद्धांत में आस्था रखते हैं। यही कारण है कि सुख–दुख में प्रायः समभाव की स्थिति देखी जा सकती है। इसका मतलब यह नहीं है कि इनमें संवेदना नहीं होती है। कहने का आशय है कि सुख में न अत्यधिक प्रसन्नचित होते हैं और न ही दुख में सिर पटक कर मातम मनाते हैं। इनके लोकगीतों में अभिधा और लक्षणा का अत्यधिक प्रयोग होता है। जैसा कि उपरोक्त पंक्तियों में नायिका को सोने और चांदी में प्रियतम नजर आती है। जब कभी नायिका सोने की अंगूठी देखती है उसे प्रियतमा ही दिखाई देती है। इस प्रकार प्रेमिका प्रेमी की विरहाग्नि में जल उठती है। लेखक की जिज्ञासा स्वाभाविक है कि "संथाल परगना

---

[28]. मैला आंचल : फणीश्वरनाथ रेणु ,पृ. 173.

के आदिवासी संथालों को सोने की झलक लगी है या नहीं, कौन जाने! लेकिन यहां के संथाल सोने और चांदी में क्या फर्क है, जानते हैं?[29] आदिवासियों में प्रायः देखा जा सकता है कि आभूषण प्रिय होते हैं। अपनी क्षमता के अनुसार वे आभूषणों का निर्माण कराते थे। जिनकी आर्थिक स्थिति ठीक नहीं होती थी, वे अपने शरीर के विविध अंगों को गोदवाकर अलंकृत कराते थे या फिर जंगली फलों के बीज से आभूषण बनाकर श्रृंगार करते थे। जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी थी वे सोना, चांदी, तांबा और कांसे के आभूषणों का प्रयोग करते थे। अभी भी पुराने संभ्रांत आदिवासी परिवारों के यहां प्राचीन आभूषणों को देखा जा सका है। अतः कहा जा सकता है कि संथाल आदिवासी पहले से ही सोने, चांदी,कांसे आदि से परिचित थे।

किसान और मजदूर के लिए सबसे खुशी का समय वह होता है जब उन्हें उन्मुक्तता पूर्वक कार्य करने की अनुमति दी जाती है। रेणुजी के 'मैला आंचल' का एक पात्र कहता है कि "जमींदारी प्रथा खतम हो गई। अब जमींदार जमीन से बेदखल नहीं कर सकता। हमने उन्हें जमीन से बेदखल कर दिया। जो जोतेगा, जमीन उसकी है। जो जितना जोत सको, जिसकी जमीन मिले जो, बोओ, काटो। अब बांटने का भी झंझट नहीं... धरती माता का प्यार झूठा नहीं। फिर खेतों में जिंदगी झूमेगी। आषाढ़ के बादल बजा रहे हैं मादल, बिजली नाच रही है। तुम भी नाचो।.....नाचो रे! मांदल बजाओ जोर–जोर से। पंचाय (संथालों के घर में बनी हुई शराब) का नशा आज नहीं उतरेगा, जब तक पूर्णिमा का चांद नहीं डूब जाए, घने बादलों में नाचना बंद नहीं होगा। चांदनी की तरह प्रियतमा की मुस्कराहट, बांसुरी–सी–मीठी बोली तीर की तरह दिल पर घाव करती है। ... मेरे कलेजे पर फूलों से भरा हुआ सिर रख दो! डा–डिग्गा, रिं–रिं ता धिन!...।"[30] इस प्रकार कथाकार ने किसानों की उत्साह और उन्मुक्तता को ग्रामीण धरातल पर ले जाकर

---

[29] मैला आंचल : फणीश्वरनाथ रेणु ,पृ. 173.

[30] मैला आंचल : फणीश्वरनाथ रेणु ,पृ. 173.

वर्णित किया है। इसी प्रकार 'मौसी' उपन्यास में रमणिका जी ने आंचलिक शब्दों के प्रयोग का भरसक प्रयास किया है। जैसा कि उनके पात्रों की बोली से प्रतीत होता है। जिस प्रकार उपन्यास के खण्ड बारह में 'मोहन बाहर 'सूत' जाता', 'माय–बाबा के पास धुरा (लोटा) दे', 'हौला–हलुक (हल्का)' 'भीड़े ने आकर मारा' इस प्रकार के शब्दों के आधार पर कहा जा सकता है कि कथाकार ने आंचलिकता को बनाए रखने का प्रयास किया है। लेकिन यह सच है कि आदिवासी इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग प्रायः नहीं करते हैं। इसका मतलब है कि वह किसी बाहरी व्यापारी या बाहरी लोगों से प्रभावित हैं।

राजेंद्र अवस्थी के उपन्यास 'सूरज किरन की छाँव' में जोसेफ पत्नी का रूप सौंदर्य देखकर वह देखता रह जाता है। काफी देर जोसेफ के नखरे देखती रही बंजारी, उससे न देखा गया तो बंजारी बोली "आंख क्यों फोड़ रहा है? क्या कभी देखा नहीं।" वह शरारत भरी हंसी हंसा। बोला 'तेरी लौकी' जैसी फूली गोरी देह देख रहा हूं। देखा तो है, पर आंखें निगोड़ी नहीं मानती। तू ही बता क्या करूं।"[31] यह सत्य है कि अपनी तारीफ भला किसे बुरी लगती है। यह सुनकर बंजारी का मन फूल गया। "मन की छाया आंखों पर उतरी उतरकर होठों पर आ समायी। यदि बतीसी साथ न देती तो पहाड़ी नाले–सी फूट पड़ती। होठों को दांतों तले दबाकर सारी मुस्कान पी गयी। बोली क्यों हंसी उड़ाता है, लौकी से बराबरी करते लाज नहीं आती? जानती हूं, रंग में कोयला हूं, पर यह तो तू भी देखता है – और क्या तब नहीं देखता था?"[32] इस प्रकार यहां वार्तालाप की शैली का प्रयोग यथासंभव हुआ है। उपमा और अलंकार ग्रामीण परिवेश से लिया गया है।

---

[31] सूरज किरण की छांव : राजेन्द्र अवस्थी ,पृ.35.

[32] सूरज किरण की छांव : राजेन्द्र अवस्थी ,पृ.35.

पति–पत्नी में तकरार प्रेम की निशानी मानी जाती है। यही प्रेम को नए–नए रूप देता रहता है। लेकिन यदि यही तकरार प्रेम–संवेदना को ठेस पहुंचाये तो दांपत्य जीवन में कडुवाहट ला देता है। जैसा कि बंजारी की आंखें चढ़ गई थी। जोसेफ ने यह जान लिया था, इसीलिए जोसेफ बोला "बिल्कुल हिरनी है। कुछ नहीं समझती...।"[33] लेकिन बंजारी कहां चुप रहने वाली थी उन्होंने प्रत्युत्तर में कहा "क्या तेरे जैसी स्यार बनूं... वह बिगड़ गया। खटिया से उठते हुए बोला। स्यार कहती है निगोड़ी। अपने मटका जैसे पेट से पूछ। कह तो विलियम को बुला दूं। सपने में आता होगा।"[34] इस प्रकार की तकरार में बात कभी–कभी कहां से कहां पहुंच जाती है। अंदाजा लगाना कठिन होता है। जैसा कि धोखेबाज विलियम को बंजारी भूलने का प्रयास कर रही है। वही इसे बार–बार याद दिला दी जाती है, जिससे बंजारी के देह में आग लग जाती है।

हम सभी जानते हैं कि आदिवासी प्रायः ग्रामीण क्षेत्रों में ही निवास करते हैं। इसलिए लेखक ने ग्रामीण परिवेश के रूप–रंग और आबोहवा को लेने का प्रयास किया है। जैसाकि "कनेर के फूल की लाली उसके गाल पर बिखर गई। बोली हटो भी तुम्हें तो खूब मजाक आते हैं। वह मेरा हाथ पकड़कर झूलने लगी, बोली चलो न भाभी। मैंने पूछा कहां? तो अजीब नाक–भौंह मटकाकर कहने लगी, नहीं जानती? आज बाजार है यहां का... बाजार है? मैंने अचरज से पूछा, तो हाथ छोड़कर वह चिल्लायी, हां. आ... ती हूं, तैयार.....भा.....भी।"[35] ग्रामीण क्षेत्रों में बाजार का काफी महत्व होता है। क्योंकि वह सप्ताह में एक या दो दिन होता है और पूरे सप्ताह भर का राशन खरीदने का दिन होता है। प्रायः ऐसा भी देखा गया है कि बाजार को साप्ताहिक मेला की तरह आस–पड़ोस के लोग देखने आते हैं।

---

33 सूरज किरण की छांव : राजेन्द्र अवस्थी ,पृ.35.

34 सूरज किरण की छांव : राजेन्द्र अवस्थी ,पृ.35.

35 सूरज किरण की छांव : राजेन्द्र अवस्थी ,पृ.36.

बंजारी के वात्सल्य प्रेम का वर्णन अद्‌भुत और दर्शनीय है। क्योंकि लेखक ने इसकी गंभीरता का ध्यान रखते हुए फ्लैश बैक तकनीक का सहारा लिया है। जैसाकि 'उसने उसे छाती से चिपका लिया। यहां–वहां घूमकर लोरी गाने लगी –

परजा दुलारी हानी हानी, कजरा ही कोयला।

बदरा छिपिस चांद अमरित बीर ला टोलरा।...

(इसका अर्थ है कि – हे दुलारी बेटी, धीरे–धीरे सो जा, मैं कोयल से काजल छीनकर लायी हूं। आज का चांद बादल में छिपा है। लेकिन फिर भी बड़े बीर उससे अमृत छीनकर लाएंगे।) कितना अच्छा रस भरा है, यह गीत! एक–एक शब्द से महुआ से जैसे लांदा टपक रही है।"[36]

प्रायः देखा गया है कि आदिवासी क्षेत्रों में गरीबी और भूख–मरी जितनी आतंक मचाती है उससे कहीं ज्यादा सरकारी तंत्र में पदासीन भ्रष्ट पदाधिकारी करते हैं। सर्वविदित है कि सिंचाई के अभाव में अच्छी फसल नहीं होती है। "इसके अलावा यदि कुछ और व्यवसाय करते हैं तो उसके एबज में सिपाही से लेकर मुखिया, नेता, रंगदार सभी का हिस्सा देना पड़ता है।"[37] यह लगभग सभी भ्रष्ट राज्य और देश का सिद्धांत प्रतीत होता है। इसीलिए मौसी कहती है, "अब खेती करने पर भी तो पूरा नहीं पड़ता। तब भी हजारी बाग आकर खटना पड़ ही जाता है।"[38] इस गुस्सा और हताशा भरी स्थिति में मौसी की उग्रता भरी भाषा शैली दर्शनीय है। "तब काहे ले करेंगे अब खेती? कुछो नहीं धरा इस खेती में। मूली, टमाटर उगाओ–दस कोस शहर में बेच आओ, तब भी दस रूपया बैलगाड़ी उठा लेता है व्यापारी। बेचारी झुमरा वाली तो चूरचू पहाड़ से 'आउती' है। चार आना किलो टमाटर का भी नहीं मिलता। मेहनत खाद बीज–पानी भी तो लौटत

---

[36] सूरज किरण की छांव : राजेन्द्र अवस्थी ,पृ.77.

[37] मौसी : रमणिका गुप्ता, पृ.8.

[38] मौसी : रमणिका गुप्ता, पृ.8.

न है। क्या जरूरत है ऐसी खेती करने की? इससे अच्छा होता है कोलयरी में जाके कहीं कोई काम कर ले? भाई–भाभी को जमीन का मोह ही नहीं छोड़ता। आधी से ज्यादा जमीन तो भाई के ब्याह में ही बंधक रखा गई। फिर चार–चार चेंगने (बच्चे) हो गए, खर्चा बढ़ गया। कमाए वाला वही दुई जन। माय–बाप तो कबे के मराय गेले। अब हम न खटते ते घर में भूखों रह जायब सभै लोग। पर ऐसा कब तक चलते? मौका मिलतेई (मिलते ही) गांव छोड़ के सब चल जाब मोहना के साथ लेके।"[39] इस प्रकार मौसी इतनी सरल स्वभाव से गरीबी भरी दास्तान सुनाती है कि कोई भी पाठक आसानी से उनकी दुःख को समझ जाती है।

यह समाज का नियम है कि हर बड़ा आदमी अपने से छोटे को तिरस्कार भरी नजरों से देखता है। उसी प्रकार समाज में माने जाने वाले हर छोटे समुदाय अपने से छोटे को खोज ही लेता है। इसी कारण मौसी द्वारा माधे दुसाध से प्रेम करना महंगा पड़ा। मौसी को समझ में नहीं आता है। इसलिए वह कहता है "क्यों छाती पर सांप लोटे लागत है इन सबनी के, मोरा खुशी देखके? मौलवी साहब से निकाह हुआ, कोइओ नाय बोलते! भगवान सिंह ले गेले, फिर छोड़ भी देले, तबौ कोइ नाय कुसुकले। आइग लगल है। मियां जात लगता था? बाबू साहब जात था? दुसाध क्या आदमी नाय होत है? मांझी–मुंडा के कौन बाबू लोग छुआ खात है, जो आपन के बड़जात मानत हैं? और बिरादरी के भोज कराय दो तो सब जात भुलाय जात है। ई कैसन कानून हय? मोहना के भी कान भर देलके है ऊ सब।"[40] मौसी की पिटाई यहां इसलिए हुई है क्योंकि वह कहीं एक जगह किसी भी समुदाय में स्थि नहीं रही। वह भले ही मौलवी साहब से निकाह कर ली है या बाबू साहब की क्यों न हो। इन दोनों समुदाय द्वारा छोड़े जाने के बाद किसी भी लोगों में इतना सहन शक्ति तो नहीं ही होती है कि अगली बार भी इस

---

[39] मौसी : रमणिका गुप्ता, पृ.8.

[40] मौसी : रमणिका गुप्ता, पृ.9.

प्रकार की गलती करने के लिए खुला छोड़ दे? ऐसे भी मुख्यधारा के लोग आदिवासियों के बारे में जाने बिना तरह–तरह की अफवाहें फैलाते हैं। जिससे दुनिया के नजर में और गिरा दी जाती है। मुख्यधारा के समाज में आदिवासियों के बारे 'फ्री सैक्स' की अफवाहें भी सुनाई पड़ती हैं। जबकि सच्चाई इससे भिन्न है। यदि लड़का--लड़कियों के मिलने मात्र से 'फ्री–सेक्स' है तो क्या मेट्रो–पोलिटन की सारी लड़के–लड़कियां 'फ्री सेक्स' करती हैं। यहां 'लेखिका 'मौसी' के माध्यम से उनकी सवर्णवादी मानसिकता उजागर हुई है। आदिवासी समाज में बाबू साहब जैसा कोई चीज नहीं पाया जाता है। उनके समाज की लड़ाई तो आदिवासी और दिकू (बाहरी) के मध्य की है। मांझी–मुण्डा का अपना अलग सामाजिक व्यवस्था है इसलिए बाबू साहब के द्वारा उनके छूआ खाये या ना खाये कोई अंतर नहीं पड़ता है। आदिवासियों के मध्य यदि आज जातिवाद, धर्मवाद का प्रचलन है तो इसका एकमात्र कारण मुख्यधारा के लोगों द्वारा फैलाया गया कुसंस्कार है। उनके लिए छोटा–बड़ा का कोई सिद्धांत नहीं रहा है। वहां मात्र बाहरी दिकू और महाजन आदि प्रवृत्तियों का विरोध रहा है। शायद उनको लग गया था कि यही आदिवासी समाज का सबसे बड़ा दुश्मन है। प्राचीन काल से शुरु किया गया शोषण रूपी प्रवृत्ति आज भी जार है। आज भी आदिवासियों के नाम पर जितने भी विकास योजनाएं चल रही हैं, उसका आदिवासी हित के नाम पर बहरागतों द्वारा शोषण या उनकी हड़पनीति चल रही है। सरकारी दृढ़ इच्छा शक्ति से आदिवासियों और बाहर से आए लोगों के मध्य विश्वास जगाया जा सकता है। जिससे कि आदिवासी और दिकू के मध्य द्वंद्व नहीं रहे।

मोहना के जवाब से पता चल जाता है कि मौसी के ऊपर इतना जुर्म क्यों हुआ। मोहना "क्या करू देवीजी, बात ही कुछ ऐसन हो गई, जे बर्दास्त से बाहर हो गई। वो सार (साले) माधो को लेके सारा मामला, सारा झंझट हुआ। फुआ को कोई और मर्द ही करना था तो मांझी–मुंडा खोजती या चल जाती फिर भगवान

बाबू के घर। ई दूसाधवा के साथ रहे लगले, इससे हमर बदनामी नाय है क्या? अब और कितने फूफा करेगी फुआ।"[41] आये दिन इस प्रकार की घटनाएं समाचार पत्रों में आती रहती हैं। आदिवासी समाज में इसके प्रति अत्यंत क्रोध है क्योंकि आदिवासी नारी या लड़की तो प्रेम–भावना में बहकर समझ बैठती है कि बाबू साहब या दिकू प्यार कर रहा है। लेकिन अंततः पता चलता है कि वह बाबू साहब तो आदिवासी लड़की को संभोग के लिए सर्वसुलभ सामान भर समझता है। बाबू साहब जैसे लोग आदिवासी समाज के खुलपन का लाभ उठा लेते हैं लेकिन यदि शादी की बात कीजिए तो मुकर जाते हैं। इसके अलावे इस तरह के लोग आदिवासी समाज के बारे में फैंटासाइज छवि दिखाते हैं। अतः आदिवासी समाज को जानने के लिए सर्वप्रथम आदिवसी समाज के मूल्यों के समझना होगा। तभी आदिवासियों को समझा जा सकता है। आधुनिकता के इस युग में किसी के पास समय नहीं है कि वह उन पर अध्ययन करे। इस भौतिकतावादी युग में मानवीय संवेदना का मूल्य घट रहा है और सभी चीजों को पैसे से तौला जा रहा है। ऐसे में न आदिवासियों को समझा जा सकता है और न ही उसका असली रूप सामने आएगा। अंततः उनके बारे में आधे–अधूरे जानकारी पर मिर्च, मसाला लगाकर लोगों के मध्य पेश किया जाता रहेगा। इन सब कारणों का प्रतिक्रिया कभी–कभी आदिवासियों में इतना उग्र रूप धारण कर लेता है कि मौसी जैसी औरतों को भुगतना पड़ता है। जैसा कि मोहन के कथन से पता चलता है, "मोहना कुछ सोच में पड़ गया और बोला, ठीक है देवी जी। मैं फुआ मामले में बीच में नहीं पड़ूंगा। बिरादरी के संभालना मेरे लिए मुमकिन नहीं। जे हमनी ऊ दिन फुआ के मारने नहीं लगते तो ऊ सबनी फुआ और माधे को तो जान से ही मार देते, हमर और हमर माई–बापा को भी नाय छोड़ते। गांव छोड़के फुआ केन दूसर जगह चल जाय, तो बिरादरी का न चलेगा। मोहना ने सफाई देते हुए आधी हिंदी (रवोरठा

---

[41] मौसी : रमणिका गुप्ता, पृ.10.

भाषा) में कहा।"[42] वहीं दूसरी ओर मौसी माधे की पिटाई से दुखी और अपनी पिटाई की दर्द भूलती हुई, कहती है, "आखिर की कसूर हले उकर (उसका)? वह बार–बार पूछती उनसे जो वहां नहीं थे। प्रश्न लौटकर उसी के वक्ष से टकराता। वह छाती पर हाथ धर के बैठ जाती। एक टीस प्रश्न चिह्न सी चीरती रहती उसका सीना।"[43] यहां भला कौन किसका ख्याल रखता है। कोई उनकी दुख को समझने वाला नहीं था। वे लोग तो मात्र प्रतिशोध और जातीय उत्पीड़न मात्र समझ उनको दंडित और डराना चाहते थे। लेकिन दोनों की असली प्रेम की गहराई को किसी ने भी टोहने का प्रयास नहीं किया। इसीलिए मौसी दुखित मन से प्रायश्चित करती है। "क्या मोर मन नाय हो सकत है, ब्याह करके बस जायके? काहे बिरादरी तब सहारा नाय देलके जब मौलवी मरे पर घट लौटल थी मैं... अब सारा पैसा सिराय (खत्म) गेले तो सभै बाप बन रहल है हमर। तब बाप बनेके कोउओ तैयार न हलै, जब भगवान सिंह पैसा देके किन (खरीद) ले गैले हमर के। जब मौलवी निकाह पढ़ाय लेत, तभे कोऊ न बोलते? वह बार–बार तर्क गढ़ती उन सबके खिलाफ जा वहां ही थे – जिन्होंने उसका बहिष्कार कर रखा था।"[44] इस संकट काल में मौसी पुराने दिनों को याद कर विचार करती। जैसा कि "पुराने दिनों की याद में डूबती–उबती मन–ही–मन पूरा किया किस्सा दुहराती। मानो उसके भीतर कोई बायोस्कोप लग गया हो और वह घुमा–घुमाकर अपनी जिंदगी की तस्वीरें दिखाती जा रही हो, साथ–साथ बताती भी जा रही हो दर्शकों को। चूंकि बायस्कोप की तस्वीरें गूंगी होती हैं। बोलती नहीं वह।"[45] इस प्रकार लेखिका ने पुनर्दीप्ति शैली का भलि–भांति प्रयोग किया है। यह एक चिरपरिचित अभिव्यक्ति शैली है, आये दिन सिनेमा (घरों) में इस तकनीक का उपयोग किया जाता है। इस उपन्यास में लेखिका ने भाषा शैली में आंचलिकता देने का भरसक

---

42 मौसी : रमणिका गुप्ता, पृ.11.

43 मौसी : रमणिका गुप्ता, पृ.12.

44 मौसी : रमणिका गुप्ता, पृ.12.

45 मौसी : रमणिका गुप्ता, पृ.13.

प्रयास किया है। लेकिन यहां मुण्डा जाति के औरत की बात कहती है पर अपनी बोली में एक–आध जगहों पर भी मुण्डारी शब्दों का प्रयोग नहीं किया है। या पात्रों से भी नहीं कराया है। जिस बोली का उन्होंने भरपूर प्रयोग किया है वह वहां रहने वाली मुस्लिम और गैर–आदिवासी बोलते हैं। लेकिन लेखिका के आंचलिकता देने का प्रयास सराहनीय है। जैसा कि "पर ई तो मियां टोली है। यह ख्याल आते ही वह घबरा गई। पन (पर) हिंदू टोली वाले कौनो शरफजादे होते हैं? ये जंगल सिपाहियन और हाकिम सभे तो हिन्दुवन ही हैं? कभी कोई औरत के छोड़े हैं यह जालिम। बस मौका मिले भर की देर रवै है, ऐसन झपट्टा मारे है, जैसे सरवन (सालों) की खरीदी हुई तिअन–तरकारी (सब्जी–भाजी) होवे है जनी (औरत) सब।"[46] कथाकार का यह प्रयास रहा है कि कोई भी समस्या छूट न जाय। उस समस्या को वहीं की आंचलिकता परिवेश और रूप–रंग के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इसमें लेखिका का यह प्रयास सराहनीय है लेकिन बार–बार कोई भी आंदोलन के साथ स्वयं को जोड़कर प्रस्तुत करती है। यह शैली कुछ अटपट्टा सा लगता है। यहां लेखिका का स्वयं के योगदान को प्रत्यक्षतः न होकर अप्रत्यक्ष रूप में आना चाहिए था। जिससे पाठक के लिए उत्सुकता को बनाए रखने में सफल रहती। बल्कि इनकी रचना को पढ़ते हुए सब कुछ साफ–साफ दृष्टव्य है।

(घ) प्रतीक, रूपक और बिम्ब विधान

साहित्य में प्रतीक–विधान का महत्व अनुभूति को व्यवस्थित करने और भाव प्रसार में सहयोग देने का है। सामान्यतः प्रतीक अप्रस्तुत कथन की एक महत्वपूर्ण सांकेतिक पद्धति है। हम जानते हैं कि प्रतीक का प्रयोग अनादि काल से ही संप्रेषण साधन के रूप में किया जाता रहा है। प्रतीक अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों ही दृष्टियों से साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। प्रतीक ज्ञाषा को

---

[46] मौसी : रमणिका गुप्ता, पृ.17.

संपन्न, समृद्ध एवं साहित्यिक बनाते हैं। उनमें लक्षणा और व्यंजना शक्ति का वह चमत्कार है जिससे भाषा की लाक्षणिकता और व्यंजनात्मकता का विकास होता है।

प्रतीक का संबंध अभिव्यक्ति की संक्षिप्तता से जुड़ा है। यह अपनी संप्रेषण क्षमता के कारण साहित्य में विशेष सौंदर्य की सृष्टि करता है। स्थूल रूप से तो भाषा और शब्द को भी प्रतीक माना जा सकता है क्योंकि प्रत्येक शब्द अपने आप में किसी न किसी भावात्मक या दृश्यात्मक सत्य को छिपाये रखता है।

साहित्य में प्रतीकों का प्रयोग कई प्रकार से दखा जा सकता है, क्योंकि प्रतीक का स्वरूप विविध आयामी है। आधुनिक हिंदी आलोचक डा. नागेंद्र ने प्रतीकों को तीन वर्गों में विभक्त किया है। 1. सृजन के प्रतीक, 2. ध्वंस के प्रतीक, 3. काम या श्रृंगार के प्रतीक। इन्हीं तीन प्रतीक–वर्गों के अंतर्गत प्रतीक के विविध रूपों को समाविष्ट किया जा सकता है। जो इस प्रकार है – भावनात्मक प्रतीक, वेदनात्मक प्रतीक, प्राकृतिक प्रतीक, सांस्कृतिक प्रतीक, आध्यात्मिक प्रतीक, श्रृंगार प्रतीक एवं शब्द–शक्ति के प्रतीक। साहित्य में प्रतीकों का प्रयोग आदिकाल से लेकर आज तक अक्षुण्ण रूप से किया जा रहा हैं कवि की अनुभूति जब सांद्र हो उठती है तब अनायास ही वह प्रतीकों के साम्राज्य में विचरण करते पहुंच जाता है। जैसाकि 'सीता' की मां सुमित्रा कहती है "न जाने नासपीटा कौन जड़ी–बूटी खिलाय देले है हमर कोयल जैसन बेटी के कि भयर दिन (दिनभर) आसीन मियां के नाम लेत रहल हय। हाय रे! हमर बेटी के भरमा देल है ई साला कुटुआ।"[47] इसी प्रकार पति द्वारा भाग जाने पर सीता कहती है 'जन्म–जला' अपने तो भायग, गेले और आपन औलाद के हमर खातिर छोड़ गेल। हम केने–केने (कहां--कहां) देखवे! बचिया बीमार हलै, तबै एक हफ्ता नागा वेशी (अधिक) हो गेय। जे पैसवा हले, ओझा के दिया गेल, बचिर पर 'छाया' (भूत प्रेत) के दूर को खातिर। अब तो उपासे ही रहे पड़ते। गीदरवन (बेटियों) की फिकर है, मुंशी बाबू, हमनी तो खायले

---

[47] मौसी : रमणिका गुप्ता, पृ.29.

बिना भी गुजर कर सकि हये।"[48] इस प्रकार जहां एक ओर परित्यक्ता सीता का जीवन संघर्षमय हो जाती है। पल–पल हेतु संघर्ष करती है। जिस प्रकार महाजनी शोषण और आतंक से मुक्ति हेतु आदिवासियों ने सोनाहातु के जमींदार के खिलाफ खुला युद्ध की घोषणा कर दी है। आज इन आदिवासियों ने युद्ध को त्यौहार की तरह बढ़–चढ़ कर उद्वेलित किया है। उनके लिए आज "युद्ध भी एक त्यौहार है। त्यौहार भी एक युद्ध है। मनहूसियत के खिलाफ प्रसन्नता का युद्ध। मनुष्य या प्रकृति के अत्याचार सहता–सहता तो लोक जड़ हो जाता है। इसलिए वह नगाड़े की आवाज से मृत्यु को जगाता है। जैसे बिजलियां चमक कर और बादल गरज कर नीरवता को झटक कर तोड़ता है।"[49] इस प्रकार यहां पर युद्ध प्रतीक है, मनहूसियत के खिलाफ प्रसन्नता का। नगाड़े की आवाज प्रतीक है क्रांति हेतु आह्वान का। बिजली की चमक और बादल की गर्जन प्रतीक है क्रांति के जोश और पूरे उत्साह के साथ आगे बढ़ने का।

रूपक: हम जानते हैं कि रूपक बहुत महत्वपूर्ण अलंकार है। इस अलंकार में लक्षण से चमत्कार घटित होता है। इसमें उपमेय पर उपमान का आरोप होता है। उपमेय और उपमान दोनों की एक रूपता प्रदर्शित करना इस अलंकार का मुख्य धर्म है। जैसा कि "आबनूस की मूर्त्तियां जूड़े में गूंथे हुए शिरीष और गुलमुहर के फूल! संथालिनें गाती हैं :

छोटी मोटी, पुखरी, चुटकुलिया पिंडरे,

पोरोइनी फूटे लाल–लाल

पासचे तेरी फूल देखी फूलय लाबेलब

पासचे–तरी आधा दिन लागित!

---

[48] मौसी : रमणिका गुप्ता, पृ.27.

[49] गगन घटा घहरानी–मनमोहन पाठक : पृ.94.

चारों ओर से बंधाए हुए एक छोटे–से पोखरे (तालाब) में पुरइन (कमल) के लाल–लाल फूल खिले हैं। उस फूल पर तुम मुग्ध हो। मुझे भी देखकर तुम मोहित होते हो। किंतु वह मोह, आधे दिन का ही तो नहीं? ... नहीं, नहीं, आधे दिन के लिए नहीं! प्राणों में घुले हुए रंगों का मोह आधे दिन में ही नहीं टूट सकता।"[50] इस प्रकार ये संथाल औरतें इन विकट परिस्थितियों में प्रेम गीत गाती हैं। इसका रूपक दर्शनीय है, जो साहित्य के समानांतर प्रतीत होता है।

रेणु जी ने आदिवासियों के लिए बहुत अच्छे और आंचलिकता को ध्यान में रखकर रूपकों का प्रयोग किया है। जिस समय रेणुजी संथालों के पूर्वजों के बारे में लिखते हैं, तो ऐसा लगता है कि उनके प्रतिरूप लाकर खड़ा कर दिया है। संथालों के बारे में बताते हैं कि विकट परिस्थिति में भी उस जमीन, उस भूमि को छोड़कर नहीं जाते हैं। जैसा कि उपन्यासकार कहते हैं "धरती का मोह भी नहीं टूट रहा। प्यारी, हमारे दादा, परदादा, पुरैनियां के जेल में मर–खप गए। मकई के बाल की तरह उनके बाल भूरे हो गए होंगे। हमारे बच्चों के दांत दूधिया मकई के दानों की तरह चमकेंगे। उनसे कहना, धरती माता के प्यार की जंजीर में हम बंध गए।"[51] इस प्रकार रेणु जी का रूपक–योजना सजीवता को लेकर प्रकट होती है।

हम सभी जानते हैं कि जब उपमेय पर उपमान का आरोप किया जाता है या जब उपमेय उपमान का रूप धारण कर ले तब रूपक अलंकार होता है। जैसा कि 'चरण–कमल'। यहां उपमेय 'चरण' ने उपमान 'कमल' का रूप धारण कर लिया इसका अर्थ हुआ चरण रूपी कमल अर्थात् दोनों में कोई भेद नहीं। यही बात हम उपमा अलंकार के माध्यम से कहना चाहें तो कह सकते हैं कमल के समान चरण। रूपक के तीन प्रकार हैं: सांग रूपक, निरंग रूपक, और परंपरित रूपक। सांग रूपक में सांग का अर्थ है अंग सहित। जहां उपमान का उपमेय पर

---

[50] मैला आंचल : फणीश्वरनाथ रेणु ,पृ. 154.

[51] मैला आंचल : फणीश्वरनाथ रेणु ,पृ. 164.

अंगों सहित आरोप हो अर्थात् उपमेय और उपमान में एकरूपता स्थापित होने पर उनके अंगों में भी एकरूपता पाई जाए वहां सांग रूपक होता है। निरंग रूपक में निरंग का अर्थ है बिना अंगों का। जब केवल उपमेय तथा उपमान में ही एकरूपता स्थापित की जाए तब निरंग रूपक अलंकार होता है। यह ध्यान देने की बात है कि यह एकरूपता उपमेय और उपमान के अंगों में स्थापित नहीं की जाती। वहीं परंपरित रूपक में दो रूपक होते हैं, जिनमें एक रूपक दूसरे पर आधारित रहता है।

आदिवासी क्षेत्रों में दिकू लोगों का प्रवेश और उससे उत्पन्न होने वाली समस्या से लोग आतंकित हैं। इसके साथ ही आदिवासी अब दिकुओं के साथ रहकर उनकी आदतें सीख रहे हैं। यही कारण है कि अब उनके जीवन मूल्य बदल रहे हैं। आज ढेर सारे कारखाने 'बजबजा' रहे हैं आदिवासी क्षेत्रों के इर्द–गिर्द। इसीलिए कथाकार कती हैं, "जंगल के भीतर तक घुसे आ रहे हैं, क्रेसर और ईंटा–भट्टे। आदिवासी का मन और मूल्य दोनों ईंटा–भ्टा सा धुआं रहा है। भीतर–भीतर जल रही है देह।"[52] इस प्रकार सांगरूपक की उपस्थिति प्रतीत होती है। वहीं 'सीता' उपन्यास में कथाकार सीता और यासीन मियां के संबंध में कहती हैं। "लगता था सचमुच सीता को नशा हो गया हो, नशा यासीन का नशा ... एकाएक बांध टूट गया हो जैसे। बाढ़ की तरह बांध तोड़ बहने लगा सीता का प्रेम। सीता नदी–सी बही जा रही थी। यासीन भंवर–सा उसे पकड़ने–समेटने के लिए चक्कर काट रहा था। भंवर–सा उसका प्यार उसे भीतर–ही–भीतर अपने में खींचे लिये जाने लगा था।"[53] यहां उपमान का उपमेय पर अंगों सहित आरोप है, इसके साथ ही उपमेय और उपमान में एकरूपता स्थापित की गई है।

---

[52] मौसी : रमणिका गुप्ता, पृ.53–59.

[53] सीता : रमणिका गुप्ता, पृ.29.

कथा की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर ही कथाकार शब्दों का चयन करता है। रूपक आदि के प्रयोग में आंचलिकता को अदश्य ही ध्यान में रखता है। जैसा कि बंजारी की मां कहती है, "जंगल हमारा धन है, बिटिया। वहां का हर झाड़ प्रेमी होता है। जो झाड़ अधिक फल देता है, वह स्त्री है। जो फल नहीं देता, वह पुरुष है। ये झाड़ भी हमारी तरह जिंदगी बिताते हैं। आपस में बातचीत करते हैं, गाना गाते हैं। इतना ही नहीं, जब कभी वे मगन हो जाते हैं तो खूब नाचते हैं – करमा, महकी, झूमर, शैला और रीना। इन्हें सारे नाच आते हैं। इन झोड़ों ने ही हमें नाचना सिखाया है, इन झाड़ों ने ही हमें हंसना सिखाया है।"[54] इन पंक्तियों से ऐसा लगता है रूपक अपने रूप को अच्छी तरह से उभारा है लेकिन इसके साथ ही इसका मानवीकरण रूप में दिखाई पड़ता है। क्योंकि कथाकार ने निर्जीव वस्तुओं में जान डाल दिया है। 'मौसी' उपन्यास में रमणिका जी ने कथा को छंदों और अलंकारों से सुसज्जित करने का भरपूर प्रयास किया है, जैसाकि मौसी के रंग–रूप के बारे में बताते हैं "मौसी को अहसास था कि वह सुंदर है। जवान है। बदन भी इकहरा है, पर गठा–गठा है। कदकाठी लंबी है युकलिप्टस के गाछ–सी।"[55]यहां उन्होंने कदकाठी की लंबाई को युकलिप्टस के गाछ–सी कहकर उत्प्रेक्षा का भी जहां–तहां प्रयोग किया है। इसी तरह मनमोहन पाठक ने सोना हातू के आदिवासियों के द्वारा छेड़ा गया युद्ध के बारे में बताते हैं "युद्ध भी एक त्यौहार है, त्यौहर भी एक युद्ध है। मनहूसियत के खिलाफ़ प्रसन्नता का युद्ध। मनुष्य या प्रकृति के अत्याचार सहता–सहता तो लोक गढ़ हो जाता है। इसलिए वह नगाड़े की आवाज से मृत्यु को जगाता है। जैसे–बिजलियां चमककर और बदल गरज कर नीरवता को झटक कर तोड़ते हैं।"[56]जगने और सोने का यह क्रम निरंतर चलता रहा है लकिन अब जाग उठने का समय आ गया है। अब त्यौहार

---

[54] सूरज किरण की छांव : राजेन्द्र अवस्थी ,पृ.111.

[55] मौसी : रमणिका गुप्ता, पृ.16.

[56] गगन घटा घहरानी–मनमोहन पाठक : पृ.94.

आ गया है। इस प्रकार कथाकार युद्ध और त्यौहार को समान मानता है। अतः यहां रूपक अलंकार है।

विम्ब विधान : बिम्ब में संवेदना अपने तात्कालिक रूप में होती है। लेकिन प्रतीक में संवेदना, तात्कालिक रूप को बांध जाती है। बिम्ब जिस वस्तु, दृश्य या व्यापार का होगा वह उसी के आंतरिक बाह्य स्वरूप के सघन और गतिशील रूप का उद्‌घाटन करेगा। रेणु जी ने मैला आंचल में आदिवासियों की जो रूप रेखा या शब्द–चित्र उकेरा है वह देखने योग्य है। आदिवासी महिलाओं के बारे में लिखते हैं कि "कोठी के जंगल में संथालिनें लकड़ी काट रही है और गा रही हैं। कुछ दिन पहले इसी जगल में संथालिनों ने एक चीते को कुल्हाड़ी और दाब से मार दिया था। शोरगुल सुनकर गांव के लोग जमा हो गए थे। मरे हुए बाध को देखकर भी लोगों के रोंगटे खड़े हो गए थे और बहुत तो भाग खड़े हुए थे, किंतु संथालिनें हमेशा की तरह मुस्करा रही थीं। मकई के दानों की सफेद दांत–पंक्तियां.....और वही सरल मुस्कराहट।"[57]यह मुस्कराहट और गंभीरता उनकी साहसीपन को दर्शाता है। जैसाकि "चीते के अचानक हमले से दो–तीन युवतियां सामान्य घायल हो गई थीं। उनके होठों पर भी वैसी ही मुस्कराहट खेल रही थी। उनके जख्मों को धोकर मरहम–पट्‌टी करते समय डॉक्टर के शरीर में एक बार सिहर की हल्की लहरें दौड़ गईं थीं। और संथालिनें खिलखिलाकर हंस पड़ी थीं... हं... हं... हं...। जख्म पर तेज दवा लगने पर इस तरह हंसना देखकर डॉक्टर ने पहली बार देखा, सुना।"[58]यहां रचनाकार ने दृश्य बिंब का सटीक प्रयोग किया है।

आदिवासी समाज की खुशियां और उत्सव दर्शनीय होते हैं। जिसपर स्वराज्य प्राप्ति पर होने वाला तथ्य देखने योग्य था। नृत्य का बिम्ब अद्‌भुत कहा

---

[57] मैला आंचल : फणीश्वरनाथ रेणु ,पृ. 153.

[58] मैला आंचल : फणीश्वरनाथ रेणु ,पृ. 154.

जा सकता है। जैसा कि, सुमरितदास बेतार कहता है, "भाई, जो भी कहो, संथाली नाच देखते समय होस गुम हो जाता है। जूड़े में सादे फूलों के गुच्छे, कसमकस देह, उजले दांत की पांती की चमक। सफेद आंचल। जब झुमुर–झुमुर कर नाचने लगती है तो मन करता है, नाच में उतर पड़े।"[59] इसमें कथाकार ने संथाली नृत्य का ऐसा बिम्ब उकेरा है कि उसका सजीव और स्पष्ट छवि आंखों के सामने घूमने लगता है। राजेंद्र अवस्थी ने भी अपनी उपन्यास में आदिवासियों के बिम्ब विधान का सजीव वर्णन किया है "करौंदा की छांव में बैठा विलियम बांसुरी बजा रहा था। उसकी तान में बड़ी मिठास थी। उसने मुझे दूर से आते देखा, तो खिल उठा। बांसुरी के स्वर और सुरीले हो गए।"[60] इस प्रकार लगता है कि यह सारा कार्य–कलाप आंखों के सामने हो रहा है।

बिम्ब कविता में वर्णित भाव–गर्भित शब्द–चित्र हैं। जिसे काव्य का अनिवार्य और महत्वपूर्ण उपादान माना गया है। बिम्ब का जन्म कवि की अनुभूति से तब होता है जब वह अपनी रागात्मक कल्पना से अनुप्राणित होकर उसे रूपाकार करता है। कवि कल्पना में बिम्ब–निर्माण की अपूर्व क्षमता निहित रहती है, क्योंकि उसकी एन्द्रिक संवेदनात्मक राग संपृक्त होकर बिम्ब का रूप धारण करती है। कहा जाता है कि काव्य–शिल्प के इस उपकरण के बिना काव्यानुभूति की अभिव्यक्ति और संप्रेषण प्रभावकारी नहीं बन पाता।

आधुनिक पाश्चात्य काव्यालोन में बिम्ब को काव्य–कसौटी का मुख्य आधार स्वीकार किया गया है। यह अंग्रेजी शब्द इमेज का पर्याय है। अंग्रेजी में इमेज से मानसिक, प्रतिकृति, मानस प्रत्यक्ष सचेष्ट स्मृति या किसी वस्तु की सदृशता आदि अर्थों का बोध होता है। लेकिन हमारे यहां यह शब्द छाया, प्रतिछाया, प्रतिकृति, प्रतिछवि, प्रतिबिम्ब तथा प्रत्यंकित रूप चित्र आदि शब्दों का समानार्थी है। परंतु

---

[59] मैला आंचल : फणीश्वरनाथ रेणु ,पृ. 221.

[60] सूरज किरण की छांव : राजेन्द्र अवस्थी ,पृ.12.

यदि व्यापकता में बिम्ब पर विचार करें तो पाते हैं कि सामान्यतः बिम्ब को एक कल्पना–चित्र के रूप में स्वीकार किया जा सकता है जिसमें रंग और रेखाओं के अतिरिक्त भावों का सन्निवेश रहता है। पाश्चात्य काव्य शास्त्री लौंगिनुस की दृष्टि में बिम्ब का उद्देश्य अभिभूत करना है। उनके अनुसार जो कुछ हम वर्णन कर रहे हैं उसे साक्षात् देख रहे हैं और अपने श्रोताओं के आगे भी प्रत्यक्ष कर रहे हैं – बिम्ब है। आगे लिखते हैं "बिम्ब की सहायता से कवि मुख्यतः भाव को उद्दीप्त करता है और वक्ता वर्णन को सजीव बनाता है, हालांकि किसी न किसी तरह भाव का उद्दीपन दोनों का लक्ष्य होता है।"[61] ऐसा माना जाता है कि ऐन्द्रिय बोध और दृश्य बोध बिम्ब की दो अनिवार्य विशेषताएं हैं। लेकिन ऐंद्रियता के आधार पर बिम्ब के कई भेद हैं। दृश्य बिम्ब पर विचार करें तो पाते हैं कि सजीव चित्रात्मक वर्णन इन बिम्बों की विशेषता है। चूंकि इसका संबंध नेत्रों से है, इसलिए इसे चक्षुष बिम्ब भी कहा जाता है। जैसा कि यासीन द्वारा सीता से शादी के प्रस्ताव रखने का दृश्य अद्भुत बिम्ब का निर्माण करती है। जैसे "तेरी कसम सीता, मुझसे तेरा दुःख देखा नहीं जाता। मैं तुझे रखने को तैयार हूं। वह बोला। सीता की आंखों से टपटप आंसू टपक पड़े। होंठों से हंसी भी फूट निकली।"[62] इसी तरह श्रव्य बिम्ब का संबंध कर्णेन्द्रिय से है। ध्वनि स्तर, लय, नाद, तान आदि कर्णप्रिय ध्वन्यात्मक संगति से श्रव्य बिम्ब का प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। रेणु जी ने श्रव्य बिम्ब का बहुत ही सुंदर रूप खड़ा करने का प्रयास किया है। आदिवासी नृत्य के समय बजने वाला मांदर और नगाड़ा की आवाज को सजीवता प्रदान किया है।

"मानर की मंद आवाज... रिंग रिंग ता धिन ता।

डिग्गा की अटूट ताल... डा डिग्गा, डा डिग्गा।

---

61 पाश्चात्य काव्यशास्त्र : लौंगाइनुस – देवेन्द्रनाथ शर्मा , पृ.90.

62 सीता : रमणिका गुप्ता, पृ.28.

(उन्मुक्त स्वर लहरी... जोहिरे जोतबो, सोहिरे बोयबो)।

मुरली की लय पर पायलों का छूम छूम – छन्न–छन्न।

डा डिग्गा, डा डिग्गा

रिंग रिंग ता धिन–ता।"[63]

इसी तरह राकेश कुमार सिंह के उपन्यास 'पठार पर कोहरा' में सरना स्थल में होने वाले नृत्य के प्रसंग में श्रव्य बिम्ब को देखा जा सकता है–

"तिरिया नाजोम नात्र जोमते

मुरली नातेन–नातेन ते

जुरी बागी कोतेत्र नोण्डोक सेनोक

एऽऽऽ हेरे–हेरे ऽऽऽ

धितंग.....धितंग....

धिधिधि...धितंग–धितंग.....!"[64]

(बाँसुरी की मधुर धुन सुन जी चाहता है, दुल्हे का घर छोड़कर वहीं जा पहुंचूँ, जहाँ बज रही है यह मधुर धुन!) इस प्रकार स्पष्ट है कि श्रव्य बिम्ब ध्वनिमूलक होते हैं, जिसमें शब्दों की ध्वन्यात्मकता बिम्ब प्रभाव उत्पन्न करती है। इसी प्रकार स्पर्शिक संवेदनात्मक चित्रों से स्पृश्य बिम्ब, मन संवेदन से आस्वाद्य तथा ध्राण संवेदन से ध्रात्वय बिम्बों की कल्पना की जाती है।

अनुभूति पूरक बिम्बः उन्हें भाव बिम्ब कहकर भी संबोधित किया जा सकता है। अनुभूति की तीव्रता अथवा भावावेश के क्षणों में इन बिम्बों का सर्जन होता है। ये बिम्ब मन से प्रत्यक्ष होकर मानवीय संवेदना को उद्‌बुद्ध करते हैं, जैसा कि

---

63 मैला आंचल : फणीश्वरनाथ रेणु ,पृ. 100.

64 पठार पर कोहराः राकेश कुमार सिंह, पृ0–223.

"जोसेफ एक–एक चुस्की लेता जाता था और मेरी ओर एकटक देख रहा था। मुझे शरम लगती है। बार–बार आंख उससे मिलती पर मैं नीचे झुका लेती। पर उसकी आंखों को न जाने क्या हो गया था। मुंह से बातें करें तो हरज नहीं, पर अनबोले टकटकी लगाए आंख गड़ाए तो न जाने कैसा लगता है। कभी शरम आती, कभी गुस्सा चढ़ता था। काफी देर उसके नखरे देखती रही, न देखा गया तो बोली 'आंख क्यों फोड़ रहा है'? क्या कभी देखी नहीं। वह शरारत भरी हंसी हंसा। बोला! तेरी लौकी जैसी फूली गोरी देह देख रहा हूं। देखा तो है, पर आंखें निगोड़ी नहीं मानती। तू ही बता क्या करूं।"[65] इस प्रकार कथाकार ने बंजारी और जोसेफ की शरारत भरी कार्यों को अनुभूतिपरक बिम्बों के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

---

[65] सूरज किरण की छांव : राजेन्द्र अवस्थी ,पृ.35.

उपसंहार

विस्थापन एक प्रक्रिया है जो प्राचीन काल से चली आ रही है। यह विश्व के सभी भागों में देखा जा सकता है। एक ओर यह प्रक्रिया विकास का आंकड़ा है तो दूसरी ओर शोषण और बर्बादी का कारण। विश्व भूगोल में जिस तरह असहाय विस्थापितों का हुजूम बढ़ रहा है, वह विचारणीय है। आधुनिक युग के हर क्षेत्रों में विकास तकनीकें विस्थापन की प्रक्रिया को बढ़ा रही हैं। आजकल विस्थापन का अर्थ और स्वरूप भी बदल गया है। विस्थापन का आशय सामान्यतः अपने मूल स्थान से अन्यत्र जाकर निवास करना है। लेकिन विभिन्न शब्दकोषों ने विस्थापन को अपने स्तर से परिभाषित करने का प्रयास किया है।

साहित्य समाज का दर्पण होता है। यह विकास के सभी पहलुओं पर समान दृष्टिकोण रखता है। इसके साथ ही समाज में व्याप्त समस्याओं पर पारखी नजर रखता है। आज जब हम दासता भरे विस्थापितों को समाज में अपने चारों ओर पाते हैं तो मन भावुक हो उठता है। आज भी विस्थापन के कई रूप समाज में व्याप्त है।

महाजनी शोषण से समाज के गरीब किसान, मजदूर, और आदिवासी ही सबसे अधिक पीड़ित हैं। इन्हीं कारणों से आदिवासियों के पास भूमि रहते हुए भी वे भूमिहीन हो गए हैं, जैसाकि उपन्यास 'पठार पर कोहरा' को पढ़ते हुए लगता है। गाँव के अधिकतर खेत बेचू तिवारी और गगन बिहारी साहू की ही मिल्कियत हैं। आदिवासी तो बस उनके खेतों में रोपने–काटने का काम करते हैं। ऐसी स्थिति उन जगहों में देखने को मिलती है, जहां शिक्षा का अभाव है और लोग अपने अधिकारों से परिचित नहीं हैं। आज भी महाजनी शोषण और जमींदारों की रंगदारी कहीं–कहीं देखने को मिलती है। जैसाकि मनमोहन पाठक के उपन्यास ''गगन घटा घहरानी''में साब जैसा महाजन आदिवासियों के मध्य घुसकर उसका शोषण कर रहा है। इनके शोषण में जमींदार और साहूकार के साथ–साथ सरकारी तंत्रों में लिप्त व्यक्ति भी कम साझेदार नहीं हैं। रक्षक ही यदि भक्षक हो जाय तो आदिवासियों का तो भगवान ही मालिक होगा। सभी जगह शोषक वर्गों का एक जैसा रूप

एवं रंग होता है। वह साहूकार या जमींदार ही क्यों न हो। उनका एक मात्र कार्य शोषण करना होता है, जिससे कि अधिकाधिक लाभ उठाया जा सके। उनको किसी देश, समाज और समुदाय की चिंता नहीं होती है। आदिवासियों की एक और गंभीर समस्या जातिगत भेद भेदभाव की है। अलग पहचान होने के कारण उन्हें समाज में घुलने–मिलने में समय लगता है। देखा गया है कि आदिवासियों का हर जगह शोषण ही हुआ है। इसलिए उनको लगता है मुख्यधारा के लोग उनके हितैषी नहीं है। आदिवासी क्षेत्रों में बाहर से आकर रहने वाले भले ही अपने को सादान (सदा से रहने वाला) कहते हों ,लेकिन इनका आदिवासियों के साथ तादात्म्य कभी नहीं हुआ ना ही इन लोगों का आदिवासियों के प्रति कोई सहानुभूति थी। 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में आदिवासियों के प्रति सहानुभूति रखने वाले मास्टर संजीव के प्रति साहूकारों और महाजनों में गुस्सा व्याप्त है। इन लोगों को मास्टर साहब के क्रियाकलापों से डर लगता है, क्योंकि मास्टर साहब आदिवासियों को शिक्षा दे रहे थे।

आधुनिकता के दौर में पूरा विश्व आंतरिक उपनिवेश से पीड़ित है। उपनिवेशी प्रवृति ने आदिवासियों के जिंदगी को अस्त–व्यस्त ही नहीं किया, बल्कि उनकी पहचान को विकृत किया है। उनके आत्मविश्वास को तोड़ा है और इससे उनकी आत्मछवि को आधात पहुँचाया है। पर्यावरण के विनाश के साथ ही आदिवासियों के सांस्कतिक क्षरण का भी इतिहास प्रारंभ होता है। इसके कारण आदिवासियों के मौलिक संस्कृति में बाहरी संस्कृतियों का घालमेल होने लगता है। साथ ही ईसाई मिशनरियों द्वारा शिक्षा के प्रचार और प्रसार ने आदिवासियों के विस्थापन को उत्प्रेरकता प्रदान की। लोग बेहतर शिक्षा की आकांक्षा में बाहर जाने लगे और कालातंर में वहीं बस गये। कुछ लोगो को ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए अन्य प्रांतों और देशों में भी भेजा जाने लगा। इससे भी विस्थापन हुआ है, लेकिन इसमें बेहतर जिंदगी हेतु स्वीकार्यतापूर्ण विस्थापन है। इसमें दयनीयता नहीं है। देश–विदेश के पूँजी के गठजोड़ द्वारा प्राकृतिक सम्पदा के अन्धाधुन्ध दोहन ने आदिवासी समाज के पारम्परिक जीवनस्रोतों को सोख

लिया है। आदिवासियों को लगातार जंगल से दूर धकेलने की यह एक सोची–समझी साजिश लगती है।

'पठार पर कोहरा' उपन्यास में राकेश कुमार सिंह प्रकृति और आदिवासियों के बीच के संबंधों के बारे में कहते हैं कि 'प्रकृतिपूजक आदिवायिों के लिए प्रकृति परिवेश भर नहीं है, अवलम्बन भी है। प्रकृति जनजातियों की सहचर भी है और उद्दीपन भी...! जंगल से बाहर के लोग प्रकृति और आदिवासियों के बीच सदैव खलनायक के रूप में ही अवतरित हुए हैं, तभी तो कहलाते हैं दीकू...! दीकू यानी दस्यु...!या बाहरी हमलावर जो जंगल में दिक्कत पैदा करे।' जंगल में आदिवासियों को जीवन मिला और उसी में वे जीवन के पाठ पढ़े। आज उसी जंगल से आदिवासियों को विस्थापित किया जा रहा है। ऐसे में उनका प्रतिरोध स्वाभाविक है। इतिहास गवाह है कि वर्षों की मेहनत के बाद आदिवासियों ने जंगल को साफ करके कृषि योग्य जमीन बनाई। सदियों तक वे अपने इलाके में स्वतंत्र ढंग से खेती–बारी करते रहे। कहीं किसी तरह का हस्तक्षेप नहीं था। इस अवधि में उन्होंने विभिन्न इलाकों में अपनी भूमि व्यवस्था स्थापित की जो सामुदायिक स्वामित्व जैसी थी। भूमि पर किसी एक व्यक्ति का आधिपत्य नहीं था। वन और भूमि दोनों के साथ यही स्थिति थी।

अंग्रेजों के आने के कुछ पहले से ही आदिवासी इलाकों में बाहरी व्यापारियों, सेठ और साहूकारों का आना–जाना शुरू हो गया था। आसपास के इलाकों और दूर–दराज से आए इन बाहरी तत्वों ने आदिवासियों की जमीन पर कब्जा करना शुरु किया। इसके साथ ही आदिवासियों का शोषण शुरू होता है और आदिवासियों के मन में आन्दोलनकारी प्रवृति भी पनपने लगती है।

विकास नीतियों की असंगत कार्यान्वयन के कारण लोग निरंतर विस्थापित हो रहे हैं। इसके साथ ही इन नीतियों का तो अधिकारीगण ऐसी धजियां उड़ाते हैं कि कुछ भी कहना बेकार है। ऐसे में एक–दो ईमानदार अधिकारी बेचारे की तरह संवेदना की भंवर में फंसकर रह जाते हैं।

आदिवासी कल्याण और विकास के सरकारी प्रयास की पोल प्रायः ऐसे स्थानों पर खुलकर सामने आ जाती है, जहां नए औद्योगिक उपक्रमों की स्थापना की गई है। इन उपक्रमों में काम करने के लिए बाहर से आए लोगों के लिए वहां 'जंगल में मंगल' सा परिवेश मिलता है। वहीं दूसरी ओर विस्थापित किए गए आदिवासी अगल–बगल की गंदी बस्तियों में नारकीय जीवन जीने को अभिशप्त हैं। आजादी के बाद आदिवासियों के कल्याण हेतु सैकड़ों योजनाएं बनीं लेकिन कार्यान्वयन नाममात्र का हुआ। यहां तक कि आबंटित राशि का दस प्रतिशत भी देश के आदिवासियों तक नहीं पहुँच पाता है। कई योजनाएं कागज पर चलती रहती हैं और कई योजनाएं तो फाइलों की कब्र में ही दफन हो जाती हैं। यदि अफसरशाही और राजनीति का यही तालमेल कायम रहा तो पता नहीं कितने समय तक आदिवासी समाज इसी तरह अनपढ़, भूखा, नंगा, शोषित, उपेक्षित और लोकतंत्र के ज्ञान एवं विज्ञान से कटा रहेगा।

आदिवासी क्षेत्रों में सरकारी या निजी क्षेत्र के बड़े परियोजनाओं के अलावे भी कई कारणों से आदिवासियों के जमीन का गैर–आदिवासियों के पक्ष में हस्तांतरण हुआ। भूमि हस्तांतरण के ऐसे नायाब तरीकों को अफसरशाही सांठ–गांठ से कारगर बनाया गया। आदिवासियों की जमीन के हस्तांतरण के मामले में अनुसूचित जाति–जनजाति आयोग के उपाध्यक्ष रहे बंदी उरांव की बहुचर्चित रिपोर्ट (बिहार सरकार) दर्शनीय है। उन्होंने सभी संस्थाओं और यहां तक कि अदालतों को भी एक स्तर पर दोषी ठहराया है। परियोजनाओं से होनेवाला विस्थापन एक बड़ी समस्या है। विस्थापन को लेकर प्रशासन और समाज के प्रबुद्ध लोगों में अब भी गलत धारणाएं कायम हैं और जब तक इन धारणाओं में बदलाव नहीं होता, समस्या का सही समाधान नहीं खोजा जा सकता है। विस्थापितों को थोड़ा–बहुत मुआवजा देकर परियोजनाओं के प्रबंधक अपनी जिम्मेदारी और कर्त्तव्य से मुक्त हो जाते हैं। विभिन्न परियोजनाओं से आज जितने लोग विस्थापित हुए हैं और आगे होने वाले हैं, इसको सही तकनीकी ज्ञान और रणनीति से रोका जा सकता है। इसके लिए परियोजनाओं की प्रकृति, प्रासंगिकता और उनकी उपयोगिता का पहले वस्तुनिष्ठ

मूल्यांकन किया जाना चाहिए। आम जनता को कम से कम क्षति और ज्यादा से ज्यादा लाभ पहुंचाने की रणनीति विकसित करने का प्रयास किया जाना चाहिए। सरकार की अव्यवहारिक विकास नीतियों को लेकर आदिवासियों में सदा से ही संदेह रहा है। उनको हमेशा से विकास के नाम पर धोखा दिया गया है। सरकार की विकास नीति हमेशा ही उनकी विस्थापन और शोषण का हथियार बनी है।

हम सभी जानते हैं कि आदिवासियों का जंगलों से अटूट संबंध रहा है। जंगल इनकी जीवकोपार्जन का महत्वपूर्ण साधन है। आदिवासी इन जंगलों का उपयोग करते हैं और आवश्यकतानुसार ही पेड़ काटते हैं। ये आदिवासी किसी पेड़ को काटते वक्त ध्यान रखते हैं कि पेड़ समूल नष्ट न हो जाए। इसलिए वे जड़ से किसी भी पेड़ का उन्मूलन नहीं करते हैं। सभी जानते हैं कि आदिवासियों के आजीविका का मुख्य आधार जंगल ही रहा है। आज जंगल के खत्म होने के साथ ही उनकी आजीविका के साधन भी समाप्त प्रायः हो चुके हैं। इसलिए इन आदिवासियों को आज जीविकोपार्जन के लिए काम के तलाश में बाहर जाना पड़ता है।

आदिवासी समाज प्रकृति प्रेमी रहा है। उनका पेड़–पौधों और जीव–जंतु से अटूट संबंध है। यही कारण है कि आज जितने भी जंगल हैं वे इन्हीं आदिवासी क्षेत्रों में हैं। लेकिन यह आदिवासियों का दुर्भाग्य है कि जंगलों में भी उन्हें आराम से नहीं रहने दिया जा रहा है। मुख्यधारा का समाज विज्ञान–प्रौद्योगिकी, जैव–विविधता, और पर्यावरण की रक्षा जैसी बड़ी–बड़ी बातें तो करता है लेकिन व्यवहारिकता में देखा जाय तो ये वायदे मात्र ही रह जाते हैं। लेकिन पर्यावरण और जंगल के साथ संतुलन बनाते हुए जीवन का निर्वाह करने वाले आदिवासियों को आज यहां से विस्थापित किया जा रहा है।

आजीविका की खोज में होने वाले पलायन को रोका जा सकता है अगर सरकार की इच्छा शक्ति हो। हम सभी जानते हैं कि सिंचाई की उचित व्यवस्था नहीं होने के कारण फसलों का उत्पादन अच्छा नहीं होता है। भारतीय किसान मानसूनी वर्षा पर निर्भर हैं। मानसून के आने में यदि थोड़ा भी आगे–पीछे होता है तो किसानों को अकाल और बाढ़

जैसी समस्याओं का सामना करना पड़ता है। परिणामस्वरूप इनको मजबूरन अन्यत्र जाना पड़ता है।

गरीबी और बेरोजगारी आज देश की सबसे बड़ी समस्याएँ बनकर उभरी हैं। रोजगार की तलाश में लोगों ने विश्व का कोना–कोना छान मारा है। पढ़े लिखे बेरोजगार युवाओं की संख्या निरंतर बढ़ती जा रही है। अशिक्षित बेरोजगार मजदूरों की संख्या भी कम नहीं है। इस प्रकार की समस्या से समाज के सभी वर्ग पीड़ित हैं। मुख्यधारा के समाज से अलग रहने वाला आदिवासी समाज भी इन समस्याओं से बच नहीं पाया है। यही कारण है कि आज आदिवासी समाज की नई पीढ़ी आजीविका की खोज में निरन्तर पलायन कर रही है। अंग्रेजों के समय में चाय बागान के मालिक बागानों में काम कराने हेतु आदिवासी मजदूरों को ले गये जो कालांतर में वहीं बस गये। आज स्थिति यह है कि इन आदिवासियों को पुनर्विस्थापन की समस्या से जुझना पड़ रहा है।

बढ़ती भूखमरी और गरीबी के कारण हो रही विस्थापन को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि भारत में अकाल भी कुछ लोगों के हाथ में खरीद–फरोख्त की वस्तु बन गयी है। कालाहांड़ी, माधोपुरा जैसी किसी भी दुर्गम पर्वतीय अथवा जंगली इलाके के आदिवासी बेल्ट में हमेशा से ही मनाव रचित दुर्भिक्ष जड़ जमाए रहता है। गरीबी और भुखमरी की व्यापकता को देखकर नजरअंदाज करना भारतीयों की आदत सी बन गई है। सिंचाई की व्यापक संभावना के बावजूद इसकी ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता है। इसका व्यापक रूप आज भी भारतीय राजनीति में देखा जा सकता है। आज राजनेता अपने चुनाव क्षेत्रों के विकास की ओर ध्यान नहीं देकर अपने प्रतिद्वंदियों की खामियां तलाशने में सारा समय लगा देते हैं। यदि सालों भर अपने विकासवादी कार्यों पर ध्यान दें, तो किसी भी विधायक या सांसद को अपने प्रतिद्वंदियों की कमजोरी खोजने की जरूरत नहीं पड़ेगी। आज के नेताओं की कार्यविहीन सोच के कारण ही विभिन्न राजनीतिक दलों के कार्यकर्ताओं में मतभेद से ज्यादा मनभेद पाया जाता है। परिणामस्वरूप आपसी झड़प तक हो जाती है। जनजातीय क्षेत्रों के लोगों की मुख्य समस्या गरीबी और अशिक्षा है। अच्छी शिक्षा और

बेहतर जिंदगी पाने की ललक लोगों को धर्म से भी पलायन को विवश करती है। इस सच्चाई से इनकार नहीं किया जा सकता है कि ईसाई धर्म का प्रचार और प्रसार उन्हीं क्षेत्रों में अधिक हुआ है जहाँ गरीबी और भूखमरी है। आदिवासियों का धार्मिक और सांस्कृतिक विस्थापन जारी है।

किसी भी लड़ाई और सांप्रदायिक दंगों में सबसे ज्यादा महिलायें ही प्रभावित होती हैं। उसमें भी यदि विस्थापित महिला हो तो उसकी स्थिति बदतर हो जाती है। ऐसी महिलाओं को इन विकट स्थितियों में दोहरी शोषण का सामना करना पड़ता है।, हम सभी जानते हैं कि समाज के कमजोर और असहाय व्यक्ति पर सभी हावी पड़ते हैं। उसमें यदि नारी हो तो यह आसान हो जाता है और महिला यदि आदिवासी या दलित हो तो यह और भी आसान हो जाता है।

विस्थापन से जनजातीय समाज में सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तन आया है। आदिवासी बहुल इलाके में बड़ी–बड़ी कोयला परियोजनाओं ने गंभीर सामाजिक–सांस्कृतिक संकट भी पैदा किये हैं, जिस ओर आमतौर पर ध्यान नहीं दिया जाता है। विस्थापन के नाम पर आर्थिक पक्ष को ही अधिक उभारा जाता रहा है। लेकिन सांस्कृतिक विस्थापन की ओर लोगों का ध्यान नहीं जाता है। गहनता पूर्वक विचार करें तो हम पाते हैं कि सांस्कृतिक विस्थापन भी एक गंभीर समस्या है।

आदिवासी समाज अपने अधिकारों की रक्षा के लिए एक लंबे समय से संघर्षरत रहा है। जैसाकि विनोद कुमार की उपन्यास 'समर शेष है' में शिबू आदिवासियों को महाजनों के चंगुल से बचाने के लिए आह्वान करते हैं 'हमें अपनी जमीन महाजनों के कब्जे से मुक्त करनी है। हमें गाँव में बच्चे और बड़ों के लिए स्कूल और रात्रि–पाठशालाएँ शुरू करनी है। हमें गाँव वालों को शराब नहीं पीने देना है और जब तक सब काम नहीं पूरा हो जाता, तब तक टुंडी में प्रशासन और पुलिस के लोगों को घुसने नहीं देना है। इस कोर्ट–कचहरी, पुलिस और सरकार से हमें कोई मतलब नहीं। हम अपने जीवन में किसी बाहरी व्यक्ति को, सरकारी तन्त्र को घुसने नहीं देंगे।'

आदिवासी नेतृत्व में लड़ा गया आंदोलन हमेशा आदिवासियों के लिए लाभकर रहा है। उन्हें कुछ न कुछ अवश्य मिला है। जैसाकि 'तिलका मांझी' और 'सिद्धो कान्हू' के नेतृत्व में लड़े गये आंदोलन ने उन्हें स्वतंत्र 'संथाल परगना' क्षेत्र दिलाया।

अतः कहा जा सकता है कि जब कभी आदिवासियों के अधिकारों का हनन हुआ है, उन्होंने आंदोलन किया है। पराधीन भारत से लेकर स्वातंत्र्योत्तर भारत के विभिन्न क्षेत्रों में आज भी विभिन्न आदिवासी समूह आंदोलनरत हैं। आदिवासी समाज राजनीति को अब समझने लगा है। आदिवासियों ने अपने अधिकार की मांग शुरु कर दी है, क्योंकि आदिवासियों में आज जागरूकता आ गई है। आज इनके मध्य शिक्षा का प्रचार और प्रसार हो रहा है। ये मुख्यधारा के लोगों के रहन–सहन और सुख–सुविधा को हासिल करना चाहते हैं।

भारत दुनिया का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक राष्ट्र है। इस लोकतांत्रिक व्यवस्था का निरन्तर विकेन्द्रीकरण हुआ है। आज इस लोकतांत्रिक व्यवस्था में लोग उत्साहपूर्वक शामिल रहे हैं। इस व्यवस्था का लाभ आदिवासियों को भी मिला है। लेकिन आदिवासी नेताओं के कार्य–कलापों को देखते हुए ऐसा लगता है कि वे भी मुख्यधारा की नेताओं की तरह भ्रष्ट हो रहे हैं। वे चुनाव के समय क्षेत्रीय समस्याओं को चुनावी मुद्दा बनाकर जीतते हैं लेकिन कालांतर में सब कुछ भूल जाते हैं। यहां तक कि वे आदिवासियों के विस्थापन जैसी मूल समस्याओं पर भी ध्यान नहीं देते हैं। सभी जानते हैं कि लोकतांत्रिक तरीके से निकाला गया किसी भी समस्या का समाधान सबसे बेहतर होता है। यही कारण है झारखंड के आदिवासियों ने 'झारखंड नामधारी पार्टी' के नेतृत्व में अलग राज्य के लिए आंदोलन किया।

हिन्दी कथा साहित्य ने आदिवासियों की समस्यायें व उनके संघर्ष को प्रतिबिंबित करने का अच्छा प्रयास किया है। आदिवासी साहित्य भी आज दलित साहित्य की तरह एक आन्दोलन के रूप में सामने आया है। आदिवासियों के बारे में बंगला साहित्य में

भी उल्लेखनीय कार्य हुआ है। हिंदी और बंगला उपन्यासों के तुलनात्मक अध्ययन से प्रतीत होता है कि बंगला उपन्यास में जहां आदिवासियों का नेतृत्व आदिवासी करता है वहीं हिंदी उपन्यास में आदिवासियों का नेतृत्व लेखक स्वयं या कोई और करता है। फिर भी कहा जा सकता कि हिन्दी कथासाहित्य और इतर साहित्य में आदिवासियों के बारे में किया गया चिन्तन और कार्य सराहनीय है।

ग्रन्थानुक्रमणिका

(क)आधार ग्रंथ

उपन्यास :–

फणीश्वरनाथ रेणु :– मैला आँचल,
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.(पुनर्मुद्रित 1996)
1–बी,नेताजी सुभाष मार्ग
नयी दिल्ली–110002.

बलवंत सिंह : –काले कोस,
प्रकाशक : सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1974

मनमोहन पाठक :– गगन घटा गहरानी,
प्रकाशक: प्रकाशन संस्थान, द्विमीय संस्करण 2000.
4715/21,दयानंद मार्ग, दरियागंज
नई दिल्ली–110002.

महाश्वेता देवी :– अग्निगर्भ,
प्रकाशक : राधाकृष्ण प्रकाशन,1979.
2/38 , अंसारी रोड,दरियागंज,
नई दिल्ली–110002.

महाश्वेता देवी :– चोटि मुण्डा और उसका तीर,
प्रकाशक : राधाकृष्ण प्रकाशन,1981.
2/38 , अंसारी रोड,दरियागंज,
नई दिल्ली–110002.

महाश्वेता देवी :– जंगल के दावेदार,
प्रकाशक : राधाकृष्ण प्रकाशन,
2/38 , अंसारी रोड.दरियागंज,
नई दिल्ली–110002.

महाश्वेता देवी : – टेरोडैक्टिल,
प्रकाशक : राधाकृष्ण प्रकाशन,
2/38 , अंसारी रोड,दरियागंज,
नई दिल्ली–110002.

यशपाल : – झूठा-सच, भाग–2
प्रकाशक : लोकभारती प्रकाशन, 1992.
इलाहाबाद

रमणिका गुप्ता : मौसी ,
प्रकाशक-- नीलकंठ प्रकाशन, 1997.
1/1079.महरौली, नई दिल्ली –110030.

रमणिका गुप्ता : सीता,
प्रकाशक --अनुराग प्रकाशन ,1996.
1/1073 ,महरौली ,नई दिल्ली –110030.

राकेश कुमार सिंह : जहाँ खिले हैं रक्तपलाश , पहला संस्करण –2003.
प्रकाशक –नेशनल पब्लिशिग हाउस ,
2/35, अंसारी रोड, दरियागेज,
नई दिल्ली –110002.

राकेश कुमार सिंह : पठार पर कुहरा , पहला संस्करण –2003.
प्रकाशक –भारतीय ज्ञानपीठ,
18,इन्स्टीटयूशनल एरिया ,लोदी रोड, नई दिल्ली
–110003

राजेन्द्र अवस्थी :– जंगल के फूल,
प्रकाशक : – आर्मी एजूकेशन स्टोर्स ,नई दिल्ली–110002.

राजेन्द्र अवस्थी : – सूरज किरण की छाँव ,
प्रकाशक : परमेश्वरी प्रकाशन ,1997.
बी –109 ,प्रीत विहार ,दिल्ली –110002.

विनोद कुमार : समर शेष है,
प्रकाशकः प्रकाशन संस्थान, 2005.
4715/21,दयानंद मार्ग, दरियागंज
नई दिल्ली--110002.

वीरेन्द्र जैन : – पार ,
प्रकाशक : वाणी प्रकाशन,1994.
नई दिल्ली –110002.

वीरेन्द्र जैन : – डूब ,
प्रकाशक : वाणी प्रकाशन, तृतीय प्रकाशन–1998.
नई दिल्ली –110002.

सच्चिदानंद धूमकेतु :- माटी की महक ,
प्रकाशक : विद्या प्रकाशन मंदिर, 1978.
1631,दरियागंज ,नई दिल्ली--110002.

कहानी संग्रहः—

अशोक कुमार मिश्र,गिरीश चंद्र दास : अरण्य स्वर.
प्रकाशकः निदेशक—नेशनल बुक ट्रस्ट,पहला संस्करण—2004.
ए/5,ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली—110016.

जाबिर हुसैन— आलोग लाजावा
प्रकाशकः सहयोग प्रकाशन, 1992
विश्वासनगर, शाहदरा, दिल्ली—110032.

जाबिर हुसैन —डोला बीबी का मजार
प्रकाशकः राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. पहला संस्करणः 2003.
साइंस कालेज के सामने , अशोक राजपथ
पटना -- 800006

डॉ. ब्रहमदेव शर्मा—गागरी बेटी माटा माझी कीः
प्रकाशकः सहयोग पुस्तक कुटीर , ट्रस्ट. नवम्बर 2003.
11/ए ,नंगली रजापुर , निजामुद्धीन पूर्व,
नई दिल्ली—110013.

डॉ. ब्रहमदेव शर्मा— पगडंडी और राजपथ
प्रकाशकः प्रकाशन संस्थान, 2003.
4715/21,दयानंद मार्ग, दरियागंज
नई दिल्ली—110002.

डॉ. ब्रहमदेव शर्मा—वेजुबान,
प्रकाशकः सहयोग पुस्तक कुटीर , ट्रस्ट. तृतीय आवृति —20001.
11/ए ,नंगली रजापुर , निजामुद्धीन पूर्व,
नई दिल्ली—110013.

डॉ. ब्रहमदेव शर्मा—रामदीन का सपना,
प्रकाशकः सहयोग पुस्तक कुटीर , ट्रस्ट. सितम्बर—2001.
11/ए ,नंगली रजापुर , निजामुद्धीन पूर्व,
नई दिल्ली—110013.

ध्रुव गुप्त– मुठभेड़
प्रकाशकः राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. पहला संस्करण,:2004.
साइंस कालेज के सामने , अशोक राजपथ
पटना – 800006

महाश्वेता देवी – आदिवासी कथा.
प्रकाशक–वाणी प्रकाशन, (प्रथम संस्करणः 2004)
21–ए, दरियागंज, नई दिल्ली–110002.

रमणिका गुप्ता – बहू जूठाई.
प्रकाशकः–नवलेखन प्रकाशन, हजारीबाग, झारखण्ड,

राजेन्द्र अवस्थी – गाँव की गलियाँ
प्रकाशकः कादम्बरी प्रकाशन 1993
5451, शिव मार्केट
न्यू चन्द्रावल , जवाहर नगर
नई दिल्लीः 110007

राजेन्द्र अवस्थी – समग्र कहानियाँ , भाग–1
प्रकाशकः कादम्बरी प्रकाशन 2003
5451,शिव मार्केट
न्यू चन्द्रावल , जवाहर नगर
नई दिल्लीः 110007

राजेन्द्र अवस्थी – समग्र कहानियाँ , भाग–2
प्रकाशकः कादम्बरी प्रकाशन 2003
5451,शिव मार्केट
न्यू चन्द्रावल , जवाहर नगर
नई दिल्लीः 110007

सुरेशकान्तः – गिद्ध.
प्रकाशकः– प्रतिभा प्रतिष्ठान, 1993.
1685.दखनीराय स्ट्रीठ,नेताजी सुभाष मार्ग ,
नई दिल्ली–110002.

संजीव– दस प्रतिनिधि कहानियाँ

प्रकाशकः किताब घर प्रकाशन,2003,

24,अंसारी रोड,दरियागंज

नई दिल्ली –110002

(ख)सहायक ग्रंथ

i-आलोचनात्मक ग्रंथः–

अजय कुमार चौधुरी : – आदिवासियों की आहर अभ्यस्तता ,

प्रकाशक : निदेशक , 2004.

भारतीय मानव विज्ञान सर्वेक्षण,

भारत सरकार,

27, जवाहरलाल नेहरू मार्ग , कोलकाता –700026.

एस.पी. कनल : भारतीय संस्कृति के आधार, 1958.

प्रकाशन : पांचाल प्रेस पब्लिकेशन, दिल्ली

गोपाल राय : –उपन्यास की पहचान :मैला आँचल,

प्रकाशकः अनुपम प्रकाशन ,2000.

पटना कॉलेज के सामने ,

पटना–800004.

डॉ. कृष्ण भावुक :– भारतीय संस्कुति की महिमा :विविध आयाम,

प्रकाशकः प्रेम प्रकाशन मंदिर, 1992.

3012,बल्लीमारान, दिल्ली–110006.

डॉ. ब्रहमदेव शर्मा–आदिवासी स्वशासन.

प्रकाशकः प्रकाशन संस्थान, संस्करण :2001.

4715/21,दयानंद मार्ग, दरियागंज

नई दिल्ली–110002

डॉ. रामदयाल मुण्डाः –आदिवासी अस्तित्व और झारखण्डी अस्मिता के सवाल,
प्रकाशकः प्रकाशन संस्थान, द्वितीय संस्करण :2004.
4715/21,दयानंद मार्ग, दरियागंज
नई दिल्ली–110002.

देवेन्द्र चौबे :– समकालीन कहानी का समाजशास्त्र ;
प्रकाशकः– प्रकाशन संस्थान, संस्करण :2001.
4715/21,दयानंद मार्ग, दरियागंज
नई दिल्ली–110002

देवेन्द्रनाथ शर्मा :– पाश्चात्य काव्यशास्त्र,
प्रकाशक : मयूर पेपरबैक्स, 1995.
ए –95 ,सैक्टर–5,नोएडा–201301.

नरेन्द्र सिंहः –दलितों के रुपान्तरण की प्रकिया,
प्रकाशक– राधाकृष्ण प्रकाशन, 1993.
2/38 ,अंसारी रोड ,दरियागंज ,
नई दिल्ली–110002.

निर्मला जैन : –पाश्चात्य साहित्य चिंतन,
प्रकाशक : राधाकृष्ण प्रकाशन, 1994.
2/38 , अंसारी रोड,दरियागंज,
नई दिल्ली–110002.

बद्रीनारायण : – लोक संस्कृति और इतिहास,
प्रकाशक : लोकभारती प्रकाशन , प्रथम संस्करण –1994.
15/ए ,महात्मा गाँधी मार्ग ,इलाहाबाद–1.

ब्रज बिहारी निगम : संस्कृति और सभ्यता : भारतीय दृष्टिकोण, 1987.
प्रकाशक : स्मृति प्रकाशन., इलाहाबाद

मनोहरलाल–संपा. : वीरेन्द्र जैन का साहित्य,
वाणी प्रकाशन ,1997.
21/ए , दरियागंज ,नई दिल्ली–110002.

महावीर अग्रवाल ,संपा. – लोकसंस्कृति : आयाम एवं परिप्रेक्ष्य ,
प्रकाशन : –श्री प्रकाशन , 1993.
एच. 24/7 ,सिविल लाइन –कसारीडीह,

दुर्ग (म.प्र.), 491001.

यशवंत जाधवः— बंजारा जाति : समाज और संस्कृति,
वाणी प्रकाशन ,1998.
21/ए ,दरियागंज ,नई दिल्ली—110002

रमणिका गुप्ता : आदिवासी स्वर और नई शताब्दी,
वाणी प्रकाशन , 2001.
21/ए ,दरियागंज ,नई दिल्ली—110002

विकास नारायण राय : — सृजन उत्सव —एक (साहित्य में ...विस्थापित)
प्रकाशक : इतिहास बोध प्रकाशन, (2001)
बी—239,चन्द्रशेखर आजाद नगर,
तेलियर गंज ,इलाहाबाद,

शंभुनाथ : — संस्कृति की उतरकथा,
प्रकाशक : वाणी प्रकाशन ,प्रथम संस्करण —2000.
21/ए ,दरियागंज, नई दिल्ली —110002.

ii-निबन्धात्मक ग्रंथः—

डॉ. ब्रहमदेव शर्मा—कसम धरती माता की,
प्रकाशकः सहयोग पुस्तक कुटीर , ट्रस्ट. दूसरा संस्करण फरवरी—20003.
11/ए ,नंगली रजापुर , निजामुद्धीन पूर्व,
नई दिल्ली—110013.

डॉ. ब्रहमदेव शर्मा—डोल उठा हिमालय भी,
प्रकाशकः सहयोग पुस्तक कुटीर , ट्रस्ट. द्वितीय आवृति जून,—20003.
11/ए ,नंगली रजापुर, निजामुद्धीन पूर्व,
नई दिल्ली—110013.

iii-अन्य ग्रन्थः—

उर्मिलेश : झारखण्ड : जादुई जमीन का अंधेरा,
प्रकाशकः— प्रकाशन संस्थान, संस्करण 1999.
4715/21,दयानंद मार्ग, दरियागंज
नई दिल्ली—110002

ए.पी. कॉवि : द कन्साइज ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी, 1997.
प्रकाशक : ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, वाई.एम.सी.ए. लाईब्रेरी बिल्डिंग,
जयसिंह रोड, नई दिल्ली —110001.

एस. नारायण : झारखण्ड आन्दोलन : उदगम एवं उत्थान,1992.
प्रकाशकः —इंटर इंडिया पलिकेशन, नई दिल्ली —110015.

कालिका प्रसाद,(संपा.) : वृहत हिन्दी कोश, 1997.
प्रकाशक : — ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी —221005.

कुमार सुरेश सिंहः बिरसा मुण्डा और उनका आन्दोलन,
प्रकाशक :—वाणी प्रकाशन , 2001.
नई दिल्ली—110002

डॉ.कालिकिंकर दत्त : बिहार में स्वतंत्र आन्दोलन का इतिहास, भाग—।
प्रकाशक : बिहार ग्रंथ अकादमी ,1998.
प्रेमचंद मार्ग ,राजेन्द्र नगर ,पटना —800016.

डॉ.कालिकिंकर दत्त : बिहार में स्वतंत्र आन्दोलन का इतिहास, भाग—।।
प्रकाशक : बिहार ग्रंथ अकादमी ,1998.
प्रेमचंद मार्ग ,राजेन्द्र नगर ,पटना —800016.

डॉ.कालिकिंकर दत्त : बिहार में स्वतंत्र आन्दोलन का इतिहास, भाग—।।।
प्रकाशक : बिहार ग्रंथ अकादमी ,1998.
प्रेमचंद मार्ग ,राजेन्द्र नगर ,पटना —800016.

डिपार्टमेंट ऑफ पब्लिक इन्फारमेशन : (बेसिक फेक्टस अबाइट द यूनाइटेड नेशन) 2000.
यूनाइटेड नेशनस, न्यू योर्क, एन. वाई. 10017.

फादर कामिल बुल्के : अंग्रेजी – हिन्दी कोश
प्रकाशक : एस. चंद एण्ड कम्पनी लि. 1998.
रामनगर, नई दिल्ली –110055,

बैकुण्ठनाथ सिंह : –राजनीति शास्त्र के सिद्वांत,
प्रकाशक : विजय भगत,
सांइटिफ़िक बुक कंपनी, 19990.
अशोक राजपथ ,पटना–800004.

मजूमदार एण्ड मदान : एन इन्ट्रोडक्शन टू सोसल एन्थ्रोपोलॉजी.
प्रकाशक : मयूर पब्लिकेशन, 1994.
ए/95, सेक्टर–5, नोयडा–201501

नर्दीम हसनैन : – जनजातीय भारत, 1997.
प्रकाशकः जवाहर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स,
नई दिल्ली–110016.

राम आहूजा : –भारतीय समाज, 2000.
प्रकाशक : –रावत पब्लिकेशन्स ,जयपुर एवं दिल्ली ,

रूपचंद वर्माः भारतीय जनजातियाँ अतीत के झरोखे से, 1992.
प्रकाशक : प्रकाशन विभाग, भारत सरकार.

शिवतोष दास : स्वतंत्रता सेनानी वीर आदिवासी ,1996.
प्रकाशक : किताब घर ,दिल्ली –110002.

(ग)पत्र – पत्रिकाएँ

1. अरावली उद्घोष – आदिवासी विमर्श , संपादक बी.पी.वर्मा "पथिक" चेतना विशेषांक,
अप्रैल–जून,2001.

2. आजकल, मासिक, मई,2003,संपादक–बलदेव सिंह मदान,अंक–1,नई दिल्ली–1

3. इकोनोमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, संपा. सी. राम मनोहर रेड्डी, 03मई 2003. पृ0–1755.

4. इकोनोमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, संपा. सी. राम मनोहर रेड्डी, 04 अक्टूबर 2003.पृ0–4224.

5. इकोनोमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, संपा. सी. राम मनोहर रेड्डी, 29 नवम्बर 2003.पृ0–5113.

6. कथादेश:,(जून 2005), संपादक– हरिनायण , अंक –4नई दिल्ली–1

7. कथादेश: (सितम्बर 2002) ,संपादक– हरिनायण , अंक –7,नई दिल्ली–1

8. जनसत्ता: दैनिक, संपादक–प्रभाष जोशी, 09 जुलाई 2005.पृ0 स0 –07.

9. जनसत्ता: दैनिक, संपादक–प्रभाष जोशी, 26मार्च 1995.

10.जनमत :(सितम्बर 2003) प्रधान संपा.– रामजी राय, संपा. –सुधीर सुमन, पटना, बिहार,

11.पुरुष : (सितंबर 2002), संपादक – विजयकांत, मुजफ्फरपुर, बिहार.

12. बूधन (अप्रैल 2003),संपादक– अनिल कुमार पाण्डेय, दिल्ली–110096,

13. बूधन (अगस्त 2003),संपादक– अनिल कुमार पाण्डेय, दिल्ली–110096

14.योजना (जुलाई 2001), प्रधान संपा– सुभाष सेतिया, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली,

15. युद्धरत आमआदमी, (अप्रैल–जून 2003), संपा.–रमणिका गुप्ता, नई दिल्ली–110024

16. युद्धरत आमआदमी, (जनवरी–मार्च 2003), संपा.–रमणिका गुप्ता, नई दिल्ली–110024

17. वर्तमान साहित्य (मासिक ,जुलाई 2001), संपादक–विभूति नारायण, अंक – 7 ,

18. वागर्थ : (फरवरी 2005), संपादक–रवीन्द्र कालिया, भारतीय भाषा परिषद,कोलकाता,

19. हंस (मासिक, जून 1997). संपादक –राजेन्द्र यादव , अंक–11 नई दिल्ली–110002,

20. हंस (मासिक, जून 2001). संपादक –राजेन्द्र यादव , अंक–11, नई दिल्ली–110002,

21. हंस (मासिक, अप्रैल, 2003). संपादक –राजेन्द्र यादव , अंक–9. नई दिल्ली–110002.

22. हिन्दुस्तानः दैनिक, (हिन्दी रांची)] सोमवार, 21जनवरी 2002.

23. .हिन्दुस्तानः दैनिक, (हिन्दी रांची) मंगलवार, 05 जुलाई 2005, पृ0 सं0 –06,

24. राष्ट्रीय सहारा, रविवार, 30मार्च1997. संपा. गोविन्द दीक्षित, नई दिल्ली,

25. सहारा समय, (17जुलाई 2004), संपादकीय सलाहकार–प्रो0 नामवर सिंह, सपादक–नोएडा,

26.साक्षात्कार (अंक संख्या–272,)संपा.भगवत रावत,पूर्णचन्द्र रथ, नवल शुक्ल,प्रका0–मध्यप्रदेश साहित्य परिषद, मुल्ला रमूजी संस्कृति भवन, वाण गंगा,भोपाल–462016.वर्ष2002.

27.साक्षात्कार, (सितम्बर 2002 अंक संख्या–273),संपा.भगवत रावत,,प्रका0–मध्यप्रदेश साहित्य परिषद, संस्कृति भवन, वाण गंगा,भोपाल–3.

Jawaharlal Nehru University Library